

कृषि संकट का गोलियों से समाधान!

अगर अंग्रेजों का राज होता तो खबर कुछ ऐसे लिखी जाती, “अंग्रेज सरकार ने भारत के 6 किसानों की गोली मरवाकर हत्या कर दी।” फिर देशभक्त अखबारों का आह्वान होता, “ऐसी लुटेरी और अत्याचारी सरकार के खिलाफ भारतवासी एकजुट हो!” दरअसल ऐसी कोई भी खबर अखबारों में नहीं है। खबर यह आयी कि गोली लगने से मध्य प्रदेश के 6 किसान मारे गये। मंदसौर या मध्य प्रदेश के किसान ही नहीं देशभर में अलग-अलग जगहों के किसान आज आन्दोलन कर रहे हैं। वे शौक के चलते आन्दोलन नहीं कर रहे हैं और न ही किसी उन्माद के चलते पुलिस की गोली खा रहे हैं। उनकी जिन्दगी नारकीय बन गयी है। एक महीना गाँव के किसी मध्यम या गरीब किसान के घर रुककर देख लीजिए। आपको पता चल जाएगा कि किसानों की जिन्दगी कैसे गुजर रही है। खेती की लागत आसमान छू रही है और फसल का दाम धराशाही हो गया है। मंदसौर के किसान फसल के वाजिब दाम और कर्ज माफी के लिए आन्दोलन कर रहे थे। इस सिलसिले में किसानों ने सरकार के सामने 32 सूत्रीय माँग रखी थी। इसमें प्रमुख माँगें इस तरह हैं— 1. मध्य प्रदेश की सरकार ने एक कानून बनाकर किसानों की जमीन हथियाने का नायाब तरीका निकाला है, इस कानून में जमीन लेने के बदले मुआवजा देने की धारा 34 को हटा दिया गया है और भूमि अधिग्रहण के विरोध में किसानों के अदालत जाने का अधिकार छीन लिया गया है। इस कानून को रद्द कराना किसानों की पहली माँग है। 2. किसान स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों को भी लागू कराना चाह रहे हैं जो भाजपा के चुनावी वादों में से एक रहा है। इनमें एक बिन्दु यह भी है कि सरकार किसानों को उनकी फसल की लागत का डेढ़ गुना दाम दिलाएँगी। 3. आन्दोलन में जिन किसानों के खिलाफ केस दर्ज हैं, उन्हें वापस लिया जाए। 4. किसानों को कर्ज के मकड़जाल से मुक्त किया जाए यानी सरकार किसानों का कर्ज माफ करे। 5. सरकार डेयरी के माध्यम से जो दूध खरीदती है, उसके दाम बढ़ाये जाएँ।

कोई भी न्यायप्रिय इनसान किसानों की इन माँगों के साथ खड़ा होगा। ये माँग किसानों की तात्कालिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं लेकिन खेती-किसानी का संकट इससे कहीं गहरा है और देश के आर्थिक ढाँचे के संकट से जुड़ा है। यह उन नीतियों का नतीजा है जिन्हें सरकार अन्धाधुन्ध लागू करती जा रही है। लेकिन यह कैसी सरकार है जो मुसीबत के मारे किसानों को तात्कालिक राहत देने के बजाय उनके खून से अपनी सत्ता की कुर्सी चमका रही है।

जिस समय अपनी माँगों को लेकर किसान आन्दोलन कर रहे थे उस दौरान सरकार की ओर से कार्रवाई के नाम पर किसान संगठनों के नेताओं को बरगलाने और आन्दोलन को तोड़ने का काम जारी था। लाख कोशिशों के बावजूद सरकार आन्दोलन को तोड़ने में कामयाब न हो सकी। 5 जून को मंदसौर-नीमच रोड पर हजारों किसानों ने चक्का जाम कर दिया। अराजक तत्वों ने कई गाड़ियों को आग के हवाले कर दिया और पत्थरबाजी की। अपनी नाकामी छिपाने के लिए खुद को किसान-हितैषी कहने वाली सरकार ने निहत्थे आन्दोलनकारियों पर गोलियाँ बरसायी और 6 किसानों की हत्या कर दी। सरकार गोलियों के सहारे किसानों की समस्या का समाधान कर रही है। दूसरी ओर मुख्यमंत्री कहते हैं कि “चर्चा के माध्यम से हर समस्या के हल के लिए हमेशा तैयार हूँ... हमारी सरकार किसानों के साथ हमेशा खड़ी है।” और किस तरह खड़ी है, यह सबके सामने आ चुका है। अब मध्य प्रदेश के गृहमंत्री और मंदसौर के डीएम प्रशासन के इस कुकृत्य से अपना पल्ला झाड़ लेना चाहते हैं। वे कह रहे हैं कि सरकार ने गोली चलाने का आदेश नहीं दिया था। फिर क्या पुलिस के सिपाहियों की किसानों से कोई व्यक्तिगत दुश्मनी थी, जो उन्होंने बिना उकसावे के निहत्थे किसानों पर गोली चलायी।

गोलीकांड के बाद देशभर में हो रही बदनामी के डर से आनन-फानन में मुख्यमंत्री शिवराज सिंह पंडाल सजाकर अनशन पर भी बैठ गये। भाजपा हमेशा गाँधीवादी रास्ते के खिलाफ रही है। फिर ऐसा क्या हो गया जो एक भाजपाई मुख्यमंत्री को गाँधीवाद का ढोंग और दिखावा करने पर मजबूर होना पड़ा? एक तरफ उनकी सरकार किसानों पर गोलियाँ बरसा रही है और तमाम भाड़े के कलमघसीट पत्रकार मृतकों के बारे में, यह कहकर उनके किसान होने पर सवाल खड़ा कर रहे हैं कि उन्होंने जींस पहनी हुई थी।

मुख्यमंत्री उपवास का ढोंग करने को तो तैयार है लेकिन यह सोचने को तैयार नहीं कि किसानों की इतनी दुर्दशा क्यों हो रही है? अमन-चैन से खेती करके जीवन-यापन करने वाला किसान क्यों आन्दोलन के रास्ते पर आगे बढ़ रहा है? अगर मुख्यमंत्री उपवास करने के बजाय इन सवालों के जवाब ढूँढ़ते और अपने चुनावी घोषणापत्र पर अमल करके किसानों का कुछ भला कर पाते तो बेहतर होता। लेकिन वे बखूबी जानते हैं कि उनकी सरकार जिन नीतियों को लागू करके किसानों को तबाह कर रही है, उसे पलटना उनके बूते के बाहर की चीज है। ये नीतियाँ विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के आगे सरकार के

उस निर्लज्ज समर्पण का नतीजा है जो इन अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने दशकों पहले देश के शासकों के साथ दुरभिसन्धि करके शुरू करवायी थी। भाजपा उन्हें नीतियों को आगे बढ़ा रही है।

अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के दबाव के चलते ही किसानों की सब्सिडी को धीरे-धीरे खत्म कर दिया गया। खेती को दैत्याकार देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले कर दिया गया। अब किसान अपने परम्परागत बीज से खेती नहीं कर सकते। उन्हें मजबूरन ड्यूपोंट, मोनसेंटो और करगिल जैसी कम्पनियों के महँगे बीज बोने पड़ रहे हैं क्योंकि बीज बाजार पर इन कम्पनियों का दबदबा है। इसी तरह बाएर क्रॉप साइंस, मोनसेंटो, एक्सेल क्रॉप केयर और भारत रसायन जैसी 20 कम्पनियाँ कीटनाशकों के बाजार पर काबिज हैं जो मनमानी कीमत पर अपने उत्पाद किसानों को बेचती हैं। दूसरी और अपनी उपज का दाम उन्हें नहीं मिलता इस तरह खेती की लागत और कृषि जिंस के दाम दोनों मामलों में किसानों को लूटा जा रहा है। जिसके चलते खेती लगातार घाटे का सौदा बनती जा रही है।

मध्यम और गरीब किसान घाटे के चलते खेती छोड़ने को मजबूर हैं। पिछले 25 सालों से औसतन हर रोज 2052 किसान खेती छोड़ देते हैं और शहरों में रिकशा चलाने या मजदूरी करने जाते हैं। किसानों की तबाही के पीछे मुख्य तौर पर सरकार की वे नीतियाँ जिम्मेदार हैं जो कृषि क्षेत्र की कम्पनियों को सीधे लाभ पहुँचाती हैं।

न्यूनतम समर्थन मूल्य के लगातार गिरते जाने से भी किसानों को अपनी फसल का वाजिब दाम नहीं मिल पा रहा है। देश के सबसे बड़े प्याज उत्पादक क्षेत्र नासिक और मंदसौर के किसान 2-3 रुपये किलो प्याज बेच रहे हैं जबकि विभिन्न शहरों में उपभोक्ता को 15-20 रुपये किलो प्याज मिल रहा है। इतना भारी अन्तर क्यों है? भाजपा ने 2014 के चुनाव में 50 प्रतिशत न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाने का वादा किया था। लेकिन 21 फरवरी 2015 को सरकार ने न्यायालय में शपथपत्र दे कर बताया कि 50 प्रतिशत न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाना सम्भव नहीं है। किसानों का आलू जब खेत से बाजार में पहुँचता है तो उसे मुश्किल से 1-2 रुपये किलो का दाम मिलता है, जबकि आलू से चिप्स बनाकर बेचने वाली 'लहर' ब्रांड की पेप्सिको कम्पनी चिप्स को 200 रुपये किलो से भी ऊँचे दाम पर बेचती है। बात साफ है सरकार और इन कम्पनियों की साँठ-गाँठ के चलते न्यूनतम समर्थन मूल्य मजाक बनकर रह गया है। इसी के चलते किसान सीधे-सीधे बिचौलिया कम्पनियों के शिकंजे में फँस गये हैं। इन कम्पनियों का खरीद बाजार पर पूरा कब्जा हो गया है। उत्पादन के समय ये फसलों के दाम गिरा देती हैं और किसानों से फसल औने-पौने दाम में खरीद लेती हैं।

कृषि एक दुश्चक्र में फँस चुकी है। कृषि और उससे जुड़े क्षेत्र का देश के सकल घरेलू उत्पाद में योगदान घटकर 12 फीसदी

से कम रह गया है।

तबाह किसान खेती को जारी रखने और अगली फसल के लिए कर्ज लेता है। बैंकों की व्यवस्था ऐसी है कि धनी किसान को अधिक कर्ज मिल जाता है, जबकि उनकी जिन्दगी पहले से ही खुशहाल है। वहीं मध्यम और गरीब किसान को कम कर्ज मिल पाता है। इसके चलते मध्यम और गरीब किसान गाँव के ही साहूकारों से ऊँची ब्याजदर पर कर्ज लेता है। किसी सूदखोर द्वारा वसूले जाने वाली ब्याज की दर 3 से 5 प्रतिशत मासिक होती है, यानी 2-3 साल में उधार की रकम दुगुनी हो जाती है। यहीं से मध्यम और गरीब किसानों की बर्बादी शुरू हो जाती है। वे कर्ज के मकड़जाल में बुरी तरह उलझ जाते हैं। अगर सरकार इन किसानों का बैंक कर्ज माफ कर दे तो उन्हें कुछ हद तक राहत मिल सकती है। हालाँकि किसानों के ऊपर बैंक से कई गुना अधिक कर्ज साहूकारों का है। इसके चलते किसान तेजी से कंगाल हो रहे हैं। हर घंटे दो किसान आत्महत्या करते हैं और पिछले 15 सालों में 2.30 लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं।

अपने हालातों से आजिज आकर किसान छोटे-बड़े सैकड़ों आन्दोलन में शिरकत कर रहे हैं और कुछ जगहों पर उनका आन्दोलन उग्र होता जा रहा है। आन्दोलन को दबाने के लिए पुलिस किसानों पर बर्बर कार्रवाई कर रही है। कृषि क्षेत्र की ऐसी दयनीय दशा खेती को हाशिये पर डालने का नतीजा है। यह चीज किसान-विरोधी उन नीतियों की परिचायक है, जिन्हें हमारे देश के शासकों ने आजादी के बाद लागू किया और आर्थिक सुधारों के बाद जिन्हें और परवान चढ़ाया। इन्हीं नीतियों के चलते वे खाद, बीज और कीटनाशक की उन कम्पनियों के पाले में खड़े हैं, जो रात-दिन किसानों को लूटकर कंगाल बना रही हैं। इन्हीं नीतियों के चलते वे चीनी मिल, आटा मिल और अन्य कृषि माल उत्पादक और वितरक कम्पनियों के पाले में खड़े हैं जो आपस में साँठ-गाँठ करके किसानों की फसलों को औने-पौने दामों में खरीद लेती हैं। किसान इन दोनों तरह की कम्पनियों की लूट के पाटों में पिस रहा है और उसकी जिन्दगी तबाह हो रही है।

हमारे देश के इन शासकों ने अंग्रेजों को भी मात दे दी है। ऐसा नहीं है कि किसान इन बातों को समझता नहीं। वह समझता है और बहुत अच्छी तरह से समझता है। इसी के चलते न केवल मध्य प्रदेश बल्कि महाराष्ट्र सहित देश के कई अन्य जगहों के किसान आन्दोलन कर रहे हैं। महाराष्ट्र के किसान सम्पूर्ण कर्जमाफी की माँग और सरकार की किसान-विरोधी नीतियों के खिलाफ माल रोको आन्दोलन चला रहे हैं। किसानों ने सड़कों पर सव्जियाँ और दूध बिखेरकर प्रदर्शन किया। मुख्यमंत्री से बातचीत का भी कोई नतीजा नहीं निकला। वहाँ भी आन्दोलन उग्र होता जा रहा है। इसके चलते नासिक में धारा 144 लगा दी गयी। वहीं उत्तर प्रदेश में सरकार ने कर्जमाफी का शिगूफा छोड़ा था, वह जमीन पर कहीं नजर नहीं आ रहा है। किसान खुद को ठगा महसूस कर

रहे हैं। समय रहते अगर सरकार नहीं चेतती तो किसानों का आन्दोलन आग की तरह फैलते देर नहीं लगेगी।

इंदौर में जनता के बीच तनाव किस कदर बढ़ गया है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि हिंसा के दूसरे दिन इंदौर पुलिस ने हाइवे पर 1100 पुलिसकर्मियों को तैनात कर दिया। इसी बीच किसानों को समझाने गये एसपी और कलेक्टर को पीट दिया गया। यह एक ऐसी चीज है जो न केवल सरकार को सोचने पर मजबूर कर रही है बल्कि उन स्वयं-भू बुद्धिजीवियों के माथे पर भी बल डाल रही जो यह कहते नहीं थकते कि हमारे देश के किसान एकजुट होने और संघर्ष करके अपनी स्थिति बदलने में असमर्थ हैं। किसान आज जिस विकट स्थिति का सामना कर रहे हैं उसमें उनके आगे आत्महत्या करने या जुझारू संघर्ष करने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। देशभर में किसानों का आन्दोलन जारी है और यह बढ़ता ही जाएगा तथा इससे व्यवस्था पर जरूर फर्क पड़ेगा। लेकिन ऐसे संघर्ष परिवर्तनकामी संगठन और पार्टी के अभाव में क्या इतने कारगर हो पाएँगे कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का कोई विकल्प प्रस्तुत करें, कहना कठिन है। जनता के सैकड़ों आन्दोलन और उसकी हजारों कुरबानियाँ तात्कालिक रूप से थोड़ी राहत तो दिला सकती हैं लेकिन इससे कोई आमूल-चूल परिवर्तन सम्भव नहीं।

खेती का अलाभकारी हो जाना और किसानों का कर्ज के जाल में फँसकर आत्महत्या करने को विवश होना खेती की उन समस्याओं का ही अनिवार्य परिणाम है जिनसे यह आजादी के बाद से आज तक ग्रस्त रही है। पहले हरित क्रान्ति और बाद में नवउदारवादी सुधारों ने इन समस्याओं को बेहद तीखा बनाया है। कर्जमाफी किसानों को कुछ फौरी राहत तो दे सकती है लेकिन खेती की बुनियादी समस्याओं पर कोई चोट नहीं कर सकती।

भारतीय कृषि की समस्याओं पर स्वामीनाथन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में मुख्य जोर भूमि सुधार पर दिया था। क्या आज कोई भी राजनीतिक पार्टी या किसान नेता भूमि सुधार की माँग करने को तैयार है?

भारत में खेती की समस्या के समाधान का रास्ता नवउदारवादी नीतियों को पूर्णतः खारिज करने से शुरू होकर क्रान्तिकारी भूमि सुधार तक जाता है। इन समस्याओं के चरणबद्ध समाधान और किसान आन्दोलन को निर्णायक जीत तक ले जाने की शुरुआत किसानों को देशी-विदेशी कम्पनियों की लूट, राजनीतिक पार्टियों की धूर्तता, सरकार की किसान विरोधी नीतियों और खेती-किसानी की राजनीतिक-आर्थिक बारीकियों के बारे में चेतना सम्पन्न करके तथा उन्हें सच्चे जनसंगठनों में गोलबन्द करके ही होगी।



पाठकों से अपील

□ 'देश-विदेश' अंक 26 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।

□ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।

□ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 26 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

□ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से भेजवाने के लिए पत्रिका के 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तर्गत करें। और इसकी सूचना एसएमएस या ई मेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता

मोबाईल नम्बर : 9810104481, 8510910358

S.B. A/C : 601510100024041

IFSC : BKID 0006015

बैंक ऑफ इण्डिया,

जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता

1/4649/45 बी, गली न। 4,

न्यू मॉर्डन शहादरा

दिल्ली- 110032

मोदी सरकार के तीन साल

--डॉ. पृथ्वी राज कालिया

“अच्छे दिन आनेवाले हैं” का नारा भाजपा ने 2014 के लोकसभा चुनाव में उछाला था। यह नारा प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेन्द्र मोदी ने जनता को यह आभास कराने के लिए दिया था कि अगर भाजपा सत्ता में आएगी तो देश का भविष्य बहुत खुशहाल हो जाएगा। (मजेदार बात यह कि इस नारे को मोदी ने अपनी प्रमुख विपक्षी पार्टी कांग्रेस के तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के एक भाषण से उठाया था। 8 जनवरी 2014 को प्रावासी भारतीय दिवस पर बोलते हुए मनमोहन सिंह ने कहा था— “हाँ, हम आज बुरे दिनों का सामना कर रहे हैं, लेकिन जल्दी ही अच्छे दिन आनेवाले हैं।” इस नारे का स्रोत यही है।)

बहरहाल, तीन साल बाद, जब इस साल मार्च में साम्प्रदायिक उन्माद के जरिये वोटों का ध्रुवीकरण करके भाजपा ने उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव में भारी बहुमत से जीत हासिल की, तब हालात 2014 के अच्छे दिन वाले तेवर से बिलकुल अलग थे। लोकसभा चुनाव जीतने के तत्काल बाद भाजपा ने खुद को दक्षिणपंथी हिन्दूवादी राजनीति से दूर रखने की कोशिश की थी। लेकिन कुछ ही दिनों बाद विकास का नारा चारों ओर से उठनेवाले साम्प्रदायिक उन्माद के शोर-शराबे में डूब गया।

2014 में ही विकास का दृष्टिकोण हिन्दुओं को मुसलमानों से खतरे की चेतावनी देते हुए चलाये गये “घर वापसी” और “लव जेहाद” के गुबार में गुम होने लगा था। 2015 में गौरक्षा और गौमांस भक्षण विरोधी नया आन्दोलन फैलाया गया। इसको केन्द्र सरकार का भरपूर सहयोग मिला। गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने राष्ट्रीय स्तर पर गौहत्या पर रोक लगाने की बात की। अब जबकि 2016 के बाद से ही गौमांस खाने के सन्देह में या गाय खरीदने-बेचने या गाय का चमड़ा उतारने वाले निर्दोष लोगों पर उन्मादी भीड़ द्वारा सुनियोजित हमला और हत्या जैसी घटनाएँ सामने आ रही हैं, तब उनका कहना है कि गाय का सवाल केवल “आस्था और संस्कृति” का मामला नहीं है, इसके “आर्थिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक पहलू” भी हैं। इस तरह हिन्दू राष्ट्रवादी तत्त्व भाजपा में प्रत्यक्ष और प्रबल भूमिका निभाने लगे हैं।

2016 आते-आते नये शासकों ने देशभक्ति की, पहले से कहीं ज्यादा जोरदार और मर्दाना किस्म की खोज कर ली, जिसको सैनिकपूजा, युद्धोन्माद और पाकिस्तान पर “सर्जिकल स्ट्राइक” के

धुँआधार प्रचार से भरपूर खुराक मिली। सरकार की नीतियों के प्रति विश्वास इस देशभक्ति का पैमाना बन गया। यानी अगर आप सरकार की नीति के विरोधी हैं तो आप देशद्रोही हैं और आपका पाकिस्तान चले जाना ही बेहतर है। राजनीतिक विरोधियों पर देशद्रोह के मुकदमे लादना रोजमर्रे की बात हो गयी। इसी बीच “विकास” की उम्मीद भरी पुरानी जुमलेबाजी को काले धन के खतरे की नयी जुमलेबाजी ने पछाड़ दिया।

“विमुद्रीकरण” यानी नोटबंदी ने पहले से ही तबाह हाल मजदूर वर्ग और खासकर असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की तबाही को नाना प्रकार से बढ़ा दिया। सबसे ज्यादा परेशानी का कारण काम के रहे-सहे अवसरों का नोटबंदी के चलते बंद हो जाना था। प्रचार तो यह किया गया कि नोटबंदी से आतंकवाद पर लगाम लगेगी, काला धन वापस आयेगा और नकली नोटों पर रोक लगेगी। लेकिन इनमें से कोई काम नहीं सधा। उल्टे लोगों को अपने कमाये पैसे मिलना भी मुसीबत बन गया। अब सरकार इसी बात से खुश है कि नोटबंदी के चलते बैंकों में नगदी की कमी दूर हुई और पहले से ज्यादा लोग टैक्स देनेवालों में शामिल हुए हैं।

दूसरी तरफ, यह सबको पता है कि आर्थिक विकास से नयी नौकरियाँ पैदा नहीं हुई, क्योंकि कोई खास नया पूँजी निवेश नहीं हुआ। नोटबंदी के बाद पहले से ही घाटे की खेती कर के तबाह हो रहे किसानों को नगदी के आभाव में फसल का बहुत कम दाम मिला और अपनी फसल बेचने के लिए उनको धक्के खाने पड़े। इसने खेती के संकट को और ज्यादा बढ़ा दिया। आठ करोड़ लोग खेती के काम में लगे हैं जिनमें से दो करोड़ खेत मजदूर हैं। मजदूरी बढ़ने की दर महज 4 फीसदी सालाना है। जाहिर है कि कम मजदूरी और रोजगार की अनिश्चितता के चलते खेत मजदूरों का जीना दूभर है। साथ ही बढ़ते लागत खर्च के कारण, पहले से ही कर्ज और गरीबी में डूबे किसानों की आमदनी में 50 से 70 फीसदी की गिरावट आयी है।

शहरों में भी तबाही का आलम साफ दिखाई दे रहा है। पिछले तीन वर्षों में शिक्षा और इलाज के खर्च में हुई बेतहाशा बढ़ोतरी और जरूरी चीजों के दाम बढ़ने के चलते शहरी मध्य वर्ग भी परेशान है। यही वर्ग मोदी का सबसे बड़ा समर्थक था, लेकिन अब इस खुशहाल तबके के मन में भी असन्तोष पैदा होने लगा है।

“स्वच्छ भारत” का काफी शोर मचाया गया। करोड़ों रुपये विज्ञापन और सरकारी तमाशों के आयोजन पर खर्च किये गये। लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ, यह किसी से छिपा नहीं है। दिनोंदिन नाले में तब्दील होती जा रही नदियों की सफाई को लेकर हो-हल्ले का नतीजा भी कुछ नहीं निकला। महिलाओं के प्रति जघन्य अपराधों में कमी आना तो दूर, आज हालत पहले से भी बदतर होते जा रहे हैं।

सरकार के अच्छे कामों में ज्यादा टैक्स वसूली, रसोई गैस सहित तमाम वस्तुओं पर सब्सिडी खर्च में भारी कटौती, नये बिजनेस के लिए आसान शर्तें, पूँजीपतियों की कर्ज माफी, डीजल-पेट्रोल की कीमतों को बेलगाम करना, कांग्रेस के जमाने से कई कदम आगे बढ़कर आर्थिक सुधारों को लागू करना, विदेशी पूँजी के लिए रक्षा क्षेत्र, खुदरा व्यापार सहित नये-नये क्षेत्रों में पूँजी लगाने की सीमा खत्म करना, जीएसटी बिल पास करवाना, नगद लेन-देन की जगह कैशलेस लेन-देन को बढ़ावा देना और ऐसे ही कई कामों को गिनवाया जा सकता है। लेकिन इन कामों से किसको फायदा और किसको नुकसान हुआ, यह भी सोचने वाली बात है।

मोदी सरकार के आलोचकों का यह कहना बिलकुल सही है कि इस सरकार की नीतियाँ नयी बोटल में पुरानी शराब के सिवा कुछ नहीं। इसी मामले में भाजपा सरकार की सहयोगी पार्टी शिव सेना का मराठी दैनिक ‘सामना’ में यह लिखना सौ फीसद सही है कि मोदी सरकार कांग्रेस के जमाने से बन रहे मेगा प्रोजेक्टों के नाम बदलने और उद्घाटन करने के काम में ही लगी हुई है, चाहे आसाम में भूपेन हजारिका के नाम पर ढोला-सदिया पुल हो या जम्मू-कश्मीर की चैनानी-नशरी सुरंग। इसी तरह, मोदी सरकार कांग्रेस सरकार द्वारा प्रस्तुत जीएसटी बिल पास करवाने का जश्न मानाने जा रही है, जिसका उसने कांग्रेस राज में 2010 से 2014 तक पुरजोर विरोध किया था। जिस आधार परियोजना को भाजपा ने नागरिकों की निजता पर हमला बताते हुए खारिज किया था, आज उसे भी सर्वोच्च न्यायालय की अवहेलना करके चोर दरवाजे से लागू करवाती जा रही है।

मोदी सरकार के झूठे वादों और बेइंतहाँ ढोंग से जनता तंग आ चुकी है। हद तो ये है कि जब लोग उनके द्वारा किये गये वादों की याद दिलाते हैं तो भाजपा अध्यक्ष उन वादों को चुनावी जुमला कहकर पल्ला झाड़ लेते हैं। दरअसल कुछ भी बदला नहीं है। रोज सुबह अखबार खोलने पर पहले की तरह ही मनहूस खबरों का सामना होता है— किसानों की आत्महत्या, बेरोजगारों के आन्दोलन, दंगे-फसाद, विरोधियों का दमन-उत्पीड़न, किसी भी बात पर देशद्रोह के मुकदमे लादना, संवैधानिक संस्थाओं का दुरुपयोग, पहले से ही अशान्त क्षेत्रों में दमन और प्रतिरोध का लगातार ऊपर उठता ग्राफ, बलात्कार और कत्ल की लोमहर्षक वारदातें और सबसे बढ़कर संघ से जुड़ी हिन्दू सेनाओं द्वारा

मुसलमानों और दलितों पर हिंसक हमले।

जनता अब और भाषण नहीं सुनना चाहती। वह तीन साल की ठोस सच्चाइयों के आधार पर यह जानना चाहती है कि सरकार ने बेरोजगारी दूर करने के लिए अब तक क्या किया और आगे क्या करने जा रही है। आईटी क्षेत्र की नौकरियों में इतनी भारी कटौती हुई, उसको रोकने के लिए सरकार क्या करने जा रही है, उन्मादी साम्प्रदायिक गिरोहों द्वारा अल्पसंख्यकों और दलितों की हत्या रोकने के लिए सरकार क्यों कोई कदम नहीं उठाती, क्यों सरकार एक तरफ पूँजीपतियों के लाखों करोड़ के कर्जे डुबंत खाते में डाल रही है और कर्ज के चलते आत्महत्या कर रहे किसानों के कर्जे माफ नहीं करती, कश्मीर समस्या और आतंकवाद खत्म करने के उसके दावों से उलट ये समस्याएँ दिनोंदिन बढ़ती क्यों जा रही हैं, दुनिया भर का दौरा करने और अरबों-खरबों के निवेश का सब्जबाग दिखाने के बावजूद अर्थव्यवस्था खस्ताहाल क्यों है, स्टार्ट अप और मेक इन इण्डिया का क्या हुआ, रोज नयी-नयी योजनाओं की घोषणा को जमीन पर उतारने का कोई प्रयास क्यों नहीं दिखाई देता इत्यादि।

2014 में मोदी सरकार अच्छे दिन और विकास के नारे के साथ सत्ता में आयी। विकास का तो कोई अता-पता नहीं, लेकिन तभी से देश में प्रतिशोध, आतंक और भय की राजनीति चल रही है। तथाकथित राष्ट्रवादी और धर्मरक्षक ज्यादा से ज्यादा असहिष्णु और हमलावर होते जा रहे हैं। वे सोचते हैं कि उनको सरकार और प्रशासन का संरक्षण मिला हुआ है और यह काफी हद तक सही भी है। उन्मादी आक्रान्ताओं पर कानूनी कार्रवाई की जगह शासन-प्रशासन उनको बचाने का ही काम करता है। पिछले तीन वर्षों में कई जाने-माने साहित्यकारों, कलाकारों और विद्वानों की हत्या हुई। गौरक्षा की आड़ में संगठित गिरोह आये दिन निर्दोष लोगों पर खूनी हमले करते रहे। हर तरह के अन्धविश्वास और प्रतिगामी मूल्यों को बढ़ावा दिया गया। नागरिक और लोकतांत्रिक अधिकारों तथा मजदूरों के अधिकारों में लगातार कटौती हुई। आर्थिक संकट गहराता जा रहा है। सामाजिक तानाबाना छिन्नभिन्न होने की हालत में है। इन घटनाओं ने मोदी शासन के राजनीतिक चरित्र पर कई सवाल खड़े किये हैं। क्या ये सारी कार्रवाइयाँ फासीवाद से मेल नहीं खाती?



जो कोई भी पूँजीवाद के बारे में बात करने को तैयार नहीं उसे फासिज्म के बारे में भी खामोश ही रहना चाहिए।

—मैक्स होरखाइमर

सहारनपुर में जातीय हिंसा और उसके निहितार्थ

-अमरपाल

2013 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर हुई में हुई साम्प्रदायिक हिंसा के दाग अभी धुले भी नहीं थे कि 5 मई की सहारनपुर की जातीय हिंसा ने समाज के कुरूप चेहरे और शासकों की मक्कारी को फिर सामने ला दिया। हिंसा और आगजनी के खूनी खेल की शुरुआत ननौता तहसील के गाँव शब्बीरपुर से हुई।

शब्बीरपुर मिश्रित आबादी का गाँव है और जिला मुख्यालय से लगभग 25 किलोमीटर दूर है। गाँव की लगभग आधी आबादी ठाकुरों की है। चौथाई आबादी चमार जाति के दलितों की है और बाकी की चौथाई आबादी में पिछड़ी जातियाँ और मुसलमान हैं। गाँव की अधिकांश जमीन ठाकुरों के पास है। कुछ दलित परिवारों के पास भी जमीन है। गाँव का प्रधान दलित है और उसके पास भी जमीन है।

घटना के बारे में आयी रिपोर्टों के अनुसार 5 मई को दलितों पर हुए हमले की तैयारी पहले से की जा रही थी। 14 अप्रैल को अम्बेडकर जयन्ती के मौके पर दलित गाँव में जुलूस निकालकर रविदास मन्दिर में अम्बेडकर की मूर्ति की स्थापना करना चाहते थे। गाँव के ठाकुरों को इस पर एतराज होने के चलते पुलिस ने मूर्ति स्थापना रोक दी।

2013 के मुजफ्फरनगर हत्याकाण्ड की तरह ही हिन्दुत्ववादी ताकतों ने दलितों पर कातिलाना हमले की तैयारी भी पहले से कर रखी थी। कवाल पंचायत की तर्ज पर ही, 5 मई को शब्बीरपुर के पड़ोसी गाँव सिमलाना में ठाकुरों ने “महाराणा प्रताप जयन्ती” के अवसर पर पंचायत आयोजित

की थी। इस पंचायत में शब्बीरपुर के कुछ ठाकुर भी लाठियों और तलवारों से लैस होकर पहुँचे थे और ठाकुर पक्ष के कुछ बाहरी लोग शब्बीरपुर में भी जुटे थे। गौरतलब है कि इन गाँवों में पिछले कई सालों से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखाएँ लगती हैं।

5 मई को सुबह 10:30 बजे मोटरसाइकलों पर सवार ठाकुर समुदाय के युवक डीजे बजाते और नारे लगाते हुए दलित मोहल्ले की ओर बढ़ रहे थे। इस कार्यक्रम की प्रशासन से अनुमति नहीं ली गयी थी। दलितों ने पुलिस को सूचना दी और पुलिस ने आकर डीजे बन्द करा दिया। इसके बाद ठाकुर युवकों के उत्पाती जत्थे ‘राजपुताना जिन्दाबाद’, ‘महाराणा प्रताप जिन्दाबाद’, ‘अम्बेडकर मुर्दाबाद’ के नारे लगाते हुए गलियों में घूमने लगे। 40 पुलिस वाले गाँव में मौजूद थे, उन्होंने इन उत्पातियों को रोकने की जहमत नहीं उठायी। दलित मोहल्ले में इसी तरह 2-3 चक्कर लगा लेने के बाद उत्पाती युवाओं की इस भीड़ ने प्रधान के परिवार द्वारा पथराव करने का शोर मचाते हुए रविदास मन्दिर पर धावा बोल दिया।

रविदास मन्दिर पर हमला सुबह 11 बजे हुआ। मन्दिर में रखी रविदास की मूर्ति को तोड़ने और मन्दिर में आगजनी की कोशिश में एक बाहरी ठाकुर युवक की मौत हो गयी। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के मुताबिक युवक की मौत दम घुटने से हुई। तुरन्त ही युवक की हत्या का आरोप दलितों के मत्थे मढ़ दिया गया और ठाकुर युवक की दलितों द्वारा हत्या किये जाने की झूठी खबर पूरे इलाके में आग की तरह फैला दी

गयी। पहले से ही सिमलाना में चल रही पंचायत से सैकड़ों लोग लाठियों, तलवारों से लैस होकर शब्बीरपुर के दलितों पर चढ़ आये। आगजनी करने के लिए किसी ने उन्हें थिनर भी दे दिया। बहुत से दलित पुरुष हमले की सम्भावना से पहले ही घर छोड़कर भाग गये थे, बहुत से खेतों में काम कर रहे थे। जो पुरुष गाँव में थे, उन पर और महिलाओं पर आफत टूटी। जय श्री राम, हर-हर महादेव, जय राजपुताना, शब्बीरपुर में रहना है तो योगी-योगी कहना है। जैसे नारे लगाते हथियारों से लैस ठाकुरों ने दलितों पर कातिलाना हमला और आगजनी शुरू कर दी। 7 पुरुषों व 5 महिलाओं को गम्भीर चोटों के चलते अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। ग्राम प्रधान के बेटे को इतना पीटा गया कि उसकी जान बचना मुश्किल है। महाराणा प्रताप के इन ‘बहादुर’ वंशजों ने एक महिला की छाती काटने का भी प्रयास किया। उसके हाथ और सीना बुरी तरह जख्मी हैं और वह भी अस्पताल में पट्टियों में लिपटी पड़ी है और अपनी नवजात बेटी को अपनी घायल छातियों से किसी तरह दूध पिला देती है।

चुन-चुन कर दलितों के 55 घरों में आग लगायी गयी। घर के किसी भी सामान को साबुत नहीं छोड़ा गया। कपड़ों-लत्तों और सामान को घरों के बीच में रखकर होली जलायी गयी। साइकिलों मोटरसाइकिलों और यहाँ तक कि घर में बँधी गाय-भैंसों को भी आग के हवाले कर दिया गया। पास के महेशपुरा गाँव में भी दलितों की दस दुकानों को जलाया गया। किसी गैर दलित की दुकान को छुआ भी नहीं गया।

घटना के समय शब्बीरपुर में 40 पुलिस वाले तैनात थे, वे सभी मूकदर्शक बने, इल्मीनान से ढाई घण्टे तक चले इस तांडव का मजा लेते रहे। घरों में आग लगने पर दलितों ने फायर बिग्रेड को फोन किया। गाँव में फायर बिग्रेड की गाड़ी आयी तो लेकिन ठाकुरों ने बुग्गी अड़ाकर रास्ता रोक दिया। पुलिस ने रास्ता खुलवाने की भी जहमत नहीं उठायी। घटना की कुछ रिपोर्टों में पुलिस द्वारा भीड़ को उकसाने और जल्दी-जल्दी सब कुछ खत्म करने की बात भी सामने आयी है।

पुलिस ने पीड़ितों और हमलावरों, दोनों को एक ही श्रेणी में रखा। 8 मई तक कुल 17 लोगों को गिरफ्तार किया गया था जिनमें 7 दलित थे। घटना के तीन दिन बाद भी पुलिस ने अस्पतालों में पड़े घायलों का बयान दर्ज करने की जरूरत महसूस नहीं की और न ही सरकार का कोई नुमाइन्दा उनकी खोज-खबर लेने आया। जिला कलेक्टर ने गाँव का दौरा किया और लखनऊ से आये गृहसचिव व डीजीपी जिला मुख्यालय से ही वापस लौट गये। झुलसाती गर्मी में बेघर हो गये परिवारों को सर छुपाने के लिए प्रशासन एक तिरपाल का भी इन्जाम नहीं कर पाया। यहाँ तक कि जिन लोगों ने बाहर से मदद पहुँचाने की कोशिश की उन्हें भी पुलिस ने रोक दिया।

तोड़-फोड़ और आगजनी के दौरान मारे गये ठाकुर युवक के लिए सरकार ने तुरन्त 10 लाख के मुआवजे की घोषणा कर दी। इसके विपरीत जो घायल दलित अस्पतालों में पड़े थे या जिनके घर जला दिये गये थे उन्हें सरकार ने कोई राहत नहीं दी।

एक तरफ हमले, आगजनी और पुलिस, प्रशासन को हमलावरों के पक्ष में खड़े देखकर दलितों के गुस्से का पारा चढ़ना लाजमी था। इस इलाके में पिछले दो सालों से दलित युवकों के बीच राजनीतिक, सामाजिक काम कर रहे संगठन “भीम आर्मी” की अगुवाई में 9 मई को साहरनपुर

के गाँधी मैदान में दलितों ने सभा करने की घोषणा की। इनकी मुख्य माँग थी कि हमले में शामिल ठाकुरों को पुलिस जल्दी गिरफ्तार करे। प्रशासन ने इसकी इजाजत नहीं दी। इसके बावजूद काफी संख्या में दलित वहाँ पहुँचे। विरोधस्वरूप उन्होंने शहर की कई सड़कें जाम करने की कोशिश की और पुलिस ने उन पर लाठीचार्ज की। इसके बाद भीड़ भड़क कर पुलिस के साथ सीधे टकराव की मुद्रा में आ गयी। लाठी-डण्डों से लैस युवकों ने पुलिस को निशाना बनाते हुए हमला बोल दिया। पुलिस थाने में आग लगा दी, पुलिस की गाड़ियाँ जला दी और जो भी पुलिसवाला उनके हाथ लगा उसे पीटा गया। एक दो पत्रकारों को भी

क्या कारण है कि पहले ही कबीर, नानक, फूले, अम्बेडकर, पेरियार जैसे पुरोधों के जबरदस्त हमलों से वैचारिक शिकस्त खा चुकने के बावजूद जाति व्यवस्था आज तक कायम है। इन कारणों को समझे बगैर हम जाति व्यवस्था और जातिगत हमलों के समूल नाश का सपना नहीं देख सकते।

पीटा गया और एक दो निजी वाहनों में भी आग लगायी गयी।

अब सरकार इस मामले को लेकर गम्भीर हो गयी। नाकामयाबी का ठीकरा जिले के दो आला अधिकारियों के सर फोड़कर उनका तबादला कर दिया गया। “कानून का राज” फिर से कायम करने के के नाम पर भीम आर्मी पर निशाना साधा गया। दलित मोहल्लों, छात्रवासों पर पुलिस ने छापेमारी शुरू कर दी। भीम आर्मी का सम्बन्ध नक्सलियों से होने की जाँच शुरू की गयी। इसके वित्तीय स्रोतों की जाँच की जाने लगी और आई एस आई द्वारा मदद पहुँचाने की सम्भानाओं पर भी विचार किया जाने लगा। इसी दौरान ठाकुरों के बहुत से युवक पूरे इलाके में तलवारों हाथ में लेकर दलितों के बीच खौफ पैदा करते रहे, उन पर हमले करते रहे। दलितों के प्रति भेदभाव

और उपेक्षा का शासन, प्रशासन और सरकार का रुख अब दमनकारी और सबक सिखाने वाला हो गया है। जातीय और धार्मिक भेदभाव की सोच पर तैयार हुई पार्टी के शासन में इससे अलग उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी।

सदियों पुरानी सोच से इनसान द्वारा इनसान के शोषण वाली जाति व्यवस्था की सड़ांध हमारे समाज के रेशे-रेशे में भरी हुई है। जाति व्यवस्था का ही कमाल है कि पूरे देश के किसानों की चमड़ी उधेड़ रही सरकार चलाने वाली पार्टी के गुर्गों के हुलसावे में आकर ठाकुर जाति के किसानों के बेटों ने ही दलितों पर हमला किया। जबकि इन्हीं दलितों के साथ आपसी सहयोग से उनका

रोजमर्रा का जीवन चलता है। दूसरी ओर, यही जाति व्यवस्था है जिसने आजादी के इतने सालों बाद भी दलितों को हर तरह से दोगम दर्जे का जीवन जीने के लिए मजबूर कर रखा है। क्या कारण है कि पहले ही कबीर, नानक, फूले, अम्बेडकर, पेरियार जैसे पुरोधों के जबरदस्त हमलों से वैचारिक शिकस्त खा चुकने के बावजूद जाति व्यवस्था आज तक कायम है। इन कारणों को समझे बगैर हम जाति व्यवस्था और जातिगत हमलों के समूल नाश का सपना नहीं देख सकते।

बाबा साहब अम्बेडकर का कहना था कि आर्थिक बराबरी के बिना सामाजिक और राजनीतिक बराबरी हासिल करना सम्भव नहीं है। आजादी मिलने के बाद देश में पूँजीवादी ढर्रे की सरकार बनी। सरकार ने राजा-रजवाड़ों और सामन्तों की भू-सम्पत्ति को मूलतः खत्म कर दिया। जमींदारी व्यवस्था को खत्म करने का भी कानून बना लेकिन पूरे देश में कोई ऐसा भूमि-सुधार नहीं किया गया जिससे समाज के सभी समुदायों के बीच जमीन का एक समान बँटवारा होता। जिन इलाकों में कुछ हद तक भूमि सुधार किया गया, वहाँ भी उच्च और मध्यम जातियों के बीच ही जमीन बाँटी गयी। दलितों को इसमें वाजिब

हिस्सा नहीं दिया गया। भूमि सुधार की असलियत यह थी कि देश की कुल कृषि योग्य भूमि के लगभग 1.5 प्रतिशत का ही बँटवारा किया गया। इससे ऊपरी तौर पर तो सामन्त शाही खत्म हो गयी लेकिन छोटे स्तर पर पूरे समाज में उसका वजूद कायम रहा। आर्थिक आधार मौजूद रहने के चलते जीवन के हर क्षेत्र में सामन्ती सोच बनी रही। दलितों से थोड़ी ही बेहतर स्थिति वाली जिन मध्यम जातियों को जमीन मिली उनका सामाजिक और आर्थिक उत्थान तेजी से हुआ और जल्दी ही वे सवर्ण जातियों की तरह अपने-अपने क्षेत्रों की प्रभुत्वशाली जाति बन गयी। देश के नाममात्र के औद्योगिकीकरण में थोड़े से दलितों को स्थान मिला, बाकी विशाल दलित आबादी गाँव में खेती के ही भरोसे थी। नतीजतन दलितों का सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण लगभग ज्यों-ज्यों का त्यों-त्यों बना रहा।

सामाजिक बराबरी लाने के नाम पर आरक्षण का जो झुनझुना दलितों के हाथ में थमाया गया था वह भी जाति व्यवस्था पर कोई कारगर चोट नहीं कर पाया। आरक्षण पर तमाम हो-हल्ले के बावजूद सच्चाई यह है कि सरकारी नौकरियों में दलितों की हिस्सेदारी मात्र 0.8 प्रतिशत है। इस नाम मात्र की हिस्सेदारी का वितंडा खड़ा करके सवर्ण जातियों के दिमाग में यह बात बैठा दी गयी कि उन्हें नौकरी न मिलने का कारण आरक्षण है। इससे लाभ पाये मुट्ठी भर दलित भी शासक वर्गों के साथ जाकर मिल गये, क्योंकि अब उनका हित भी शासकों के हित से जुड़ गया था उनका वर्ग चरित्र बदल गया और वे कोई क्रान्तिकारी जाति विरोधी आन्दोलन खड़ा करने लायक ही नहीं रहे। ले देकर अस्मितावादी दलित विमर्श के लायक ही बचे।

दलित राजनीति के नाम पर जो लोग सत्ता के गलियारों तक पहुँचे, उनका हाल भी कमोबेश ऐसा ही रहा। लेकिन उनके अभियानों से अस्मिता को लेकर, थोड़ी ही सही, जागृती आयी। कुल मिलाकर आजादी के बाद बने कानूनों और जातीय

दमन विरोधी आन्दोलनों से जाति व्यवस्था पर कुछ ऊपरी चोट तो हुई, लेकिन उसके आधार को कोई नुकसान नहीं पहुँचा, इसके उलट इसने कई तरीकों से जाति व्यवस्था को मजबूत भी किया।

जिस पूँजीवादी तौर-तरीके की सरकार आजादी के बाद बनी थी, 1990 तक आते-आते उसका अन्त हो गया और देश की व्यवस्था को नवउदारवादी सिद्धान्तों के अनुसार ढाला गया। इसने शासकों के सामने जातिवादी व्यवस्था और सामन्ती सोच को अपने अनुरूप ढालने की जरूरत पैदा की।

उदारवाद की नीतियों ने देश की अर्थव्यवस्था को इस तरह से ढाला कि आबादी के बड़े हिस्से की आय में गिरावट आयी और जीवन लागत महँगी हुई। इस सब का एक प्रमुख मकसद देशी-विदेशी निवेशकों को सस्ते से सस्ते मजदूर उपलब्ध कराना था। सरकार की ओर से जनता को मिलने वाली सुविधाओं और सब्सिडी में कटौती की गयी। शिक्षा, इलाज, बिजली, पानी जैसी बुनियादी सेवाओं का निजीकरण करके उन्हें मुनाफा कमाने का धन्धा बनाया गया। मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए बनाये गये श्रम कानूनों को पलटकर पूँजीपतियों के हित में कर दिया गया। इन सभी बदलावों का असर देश की सर्वाधिक गरीब जनता पर सबसे ज्यादा पड़ना तय था। जातीय अनुपात के हिसाब से सर्वाधिक गरीब आबादी में सबसे बड़ा हिस्सा दलितों और आदिवासियों का है। उदारवाद की नीतियों से इन जातियों की जीविका के सीमित साधन तबाह हो गये और इनके बीच भारी सख्या में कंगालीकरण हुआ।

उदारवाद से आर्थिक जीवन में होने वाली तबाही से उत्पन्न जनता के गुस्से को थोड़ा कम करने के लिए बीच-बीच में वृद्धावस्था पेंशन, मिड डे मील, 2 रुपये किलो अनाज जैसी भिखमगई वाली या मनरेगा जैसी सजावटी योजनाएँ भी चलायी गयी। व्यवस्था में नख से शिख तक व्यापत भ्रष्टाचार और जनता के दबू चरित्र के चलते, तबाह हो चुकी जीविकाओं पर इन

नीतियों से कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। धन्धा बन चुके मीडिया द्वारा इन नीतियों का ढिंढोरा ऐसा पीटा गया जैसे गरीब काहिल हैं और सारी सरकारी आय को खाये जा रहे हैं। आबादी के थोड़ी बेहतर स्थिति वाले हिस्से की जीविका में हो रहे क्षरण के लिए भी घुमा-फिराकर इन्हीं योजनाओं को जिम्मेदार ठहराया गया। जातीय संरचना वाले हमारे समाज में जातियों के बीच टकराव बढ़ा और उदारवाद जनता के सीधे निशाने पर आने से बच गया। यह कांग्रेस की नीति थी।

भाजपा की नीति इससे भी कहीं ज्यादा खतरनाक है। इसने कांग्रेस की नीतियों के बजाय समाज के सबसे सड़े हुए धर्मान्धता, जातिवाद, अतीत का महिमामंडन, अंधविश्वास, कर्मकाण्ड जैसे मूल्यों को योजनाबद्ध ढंग से बढ़ावा दिया। यह अंग्रेजी राज के उसूलों और ढाँचे पर खड़ी, सामन्ती मूल्यों से ग्रस्त नौकरशाही, सेना, पुलिस के दम पर हर तरह के विरोध को लाठी-गोली के दम पर दबा देने या उसे देशद्रोही, समाजद्रोही साबित करने की नीति पर अमल करती है। इससे रोज-ब-रोज नये-नये टकराव खड़े हो रहे हैं और उनकी आड़ में उदारवादी लूट धड़ल्ले से जारी है। सहारनपुर की जातीय हिंसा इन्हीं नीतियों का परिणाम है, जहाँ भाजपा सरकार की नीतियों से लुट रहे ठाकुर किसानों के लड़के उसी सरकार का महिमा मंडन करते हुए दलितों को मार रहे हैं, उनके घर जला रहे हैं।

सच्चाई यह है कि जाति की समस्या केवल सामाजिक समस्या नहीं है। इसलिए इसका समाधान केवल सामाजिक आन्दोलनों या संघर्षों से नहीं हो सकता। यह एक आर्थिक-सामाजिक समस्या है और भारतीय समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन की रग-रग इससे विषाक्त है। सम्पत्ति और जीविका के साधनों के न्यायपूर्ण बँटवारे और उसके साथ-साथ सामाजिक आन्दोलनों का अटूट सिलसिला शुरू किये बगैर जातिवाद का समूल नाश सम्भव नहीं है।



नरमुंड में तब्दील हो रहे तमिलनाडु के किसान

-कबीर संजय

राधाकृष्ण की उम्र पचास साल के लगभग थी। वे तमिलनाडु के तिरुची जिले के एक गाँव में रहते थे। गाँव के पास ही उनके खेत हैं। जिनमें वे धान उगाते थे। उनके परिवार में तीन लड़कियाँ और दो लड़के थे। बच्चे अभी पढ़ाई कर रहे थे। खेती में अलग-अलग जरूरतों के लिए उन्होंने लगभग पचास हजार रुपये उधार लिए हुए थे। फसल अच्छी हो जाती तो इस उधार को चुकाना कोई बड़ी बात नहीं थी। लेकिन, हुआ कुछ और ही। सिंचाई के लिए पानी नहीं मिला। खड़ी फसल सूख गयी। उधार चुकाने के लिए बैंक के कर्मचारी लानत-मलामत करने लगे। खेत पर कब्जे की धमकियाँ दी जाने लगीं। जिन्दगी जीने की तमाम कोशिशें नाकाम साबित होने लगीं। रोज-रोज की जिल्लत से तंग आकर राधाकृष्ण ने जहर खाकर जान दे दी।

कुछ ऐसी ही कहानी तिरुची के ही एक अन्य किसान लक्ष्मी की भी है। पैतालीस वर्षीय लक्ष्मी भी धान की खेती करते थे। परिवार में पत्नी के अलावा तीन बेटियाँ थीं। पानी की कमी के चलते उनके खेत भी सूख गये। बैंक वालों के बार-बार के तगादे और धमकियों से तंग आकर उन्होंने भी फाँसी लगाकर जान दे दी। परिवार का आज भी रो-रोकर बुरा हाल है। 59 वर्षीय किसान मुत्तरसन की कहानी भी ऐसी ही है। बस इसमें अन्तर है तो सिर्फ इतना सा कि अपनी खराब होती फसल और बैंक वालों की धमकियों से तंग आकर एक दिन वे अपने खेत पर ही गश खाकर ऐसा गिरे कि दोबारा उठ नहीं सके। जबकि, नागस्टीन ने भी सिर्फ पचास हजार का कर्ज नहीं

चुका पाने के चलते कीटनाशक पीकर जान दे दी।

फसल की तबाही और कर्ज के बोझ से दबे किसानों द्वारा आत्महत्या करने की तमाम घटनाओं के यह कुछ उदाहरण हैं। हकीकत यह है कि देश भर में हाल के कुछ वर्षों में किसानों की आत्महत्या की घटनाओं में तेजी से बढ़ोतरी हुई। अकेले तमिलनाडु में ही साल भर के अन्दर तीन सौ से ज्यादा किसानों द्वारा अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेने की खबरें हैं। इन आत्महत्याओं की गवाही देने के लिए राधाकृष्ण, लक्ष्मी, मुत्तरसन और नागस्टीन जैसे आठ किसानों के नरमुंड दिल्ली के जंतर-मंतर पर पहुँचे। फसलों की तबाही और कर्ज के बोझ तले दबे किसानों ने अपनी लड़ाई में इन नरमुंडों को एक तरह का सांकेतिक हथियार बनाया। इन नरमुंडों को अपने गले में लटकाकर तमिलनाडु के किसान जंतर-मंतर पर प्रदर्शन कर रहे हैं।

किसानों का कहना है कि पिछले कुछ सालों में तमिलनाडु को कावेरी नदी से मिलने वाले पानी की मात्रा में कमी आयी है और बारिश भी कम हुई है। इसके चलते फसलों की सिंचाई तो दूर की बात है, पीने का पानी जुटाना भी मुश्किल है। इनमें से ज्यादातर किसान छोटी जोत वाले हैं और धान उगाते हैं। यही उनकी जीविका का मुख्य स्रोत है। धान की फसल में पानी की जरूरत भी ज्यादा होती है। इसके चलते भी कावेरी नदी से पानी के मिलने में होने वाली कमी और सूखें का इन किसानों के जीवन पर भयावह असर पड़ा है।

अपने किसान भाइयों के नरमुंडों के

साथ प्रदर्शन कर रहे इन किसानों की सिर्फ एक ही चिन्ता है, कहीं वे खुद भी नरमुंडों में तब्दील न हो जाएँ। लगभग सभी ने खेती की जरूरतों के लिए बैंकों या साहूकारों से कर्ज ले रखा है। फसल की हालत इतनी खराब हो चुकी है कि उससे कर्ज चुकना सम्भव है। ऐसे में किसान क्या करेगा। कहाँ जाएगा। क्या तो खुद खाएगा और क्या अपने घर वालों को खिलाएगा। अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में तमिलनाडु के किसान कुछ इसी तरह की बातें बताते हैं। केन्द्र सरकार से वे किसानों के लिए चालीस हजार करोड़ रुपये का सूखा राहत पैकेज जारी करने की माँग कर रहे हैं और किसानों के कर्ज माफी की माँग कर रहे हैं। लेकिन, न तो तमिलनाडु में जल्द चुनाव होने वाले हैं और न ही वहाँ पर केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी को कुछ राजनीतिक सम्भावनाएँ उज्ज्वल होने की उम्मीदें हैं। फिर वहाँ के लिए राहत की घोषणाएँ क्या करना। तो तमिलनाडु के इन किसानों की आवाज जंतर-मंतर की लगभग आधा किलोमीटर लम्बी सड़क के बीच ही दबकर रह जा रही है।

हालाँकि, गले में पड़ी नरमुंडों की माला ने मीडिया में कुछ लोगों का ध्यान खींचा है। लेकिन, यह खबर पिछले पन्नों में कहीं जाकर सिमटकर रह गयी। नरमुंडों की इस माला में कोई एक नरमुंड राधास्वामी का है तो कोई लक्ष्मी का। कोई मुत्तरसन का तो कोई नरमुंड नागस्टीन का है। हालाँकि, अब इन नरमुंडों की अलग पहचान मिट चुकी है। जंतर-मंतर पर विरोध प्रदर्शन करने पहुँचे एक किसान बताते हैं कि

आत्महत्या करने वाले इन किसानों के अन्तिम संस्कार के बाद नरमुंड एकत्र कर लिए गये थे। इन नरमुंडों के जरिए डरावने भविष्य की तरफ चेताया जा रहा है।

एक महीने में 106 आत्महत्याएँ

तमिलनाडु के किसान हाल के कई वर्षों के सबसे भयंकर सूखे का सामना कर रहे हैं। यहाँ तक कि केवल दिसम्बर महीने में तमिलनाडु में 106 से ज्यादा किसानों की आत्महत्या की खबरें आयीं। स्थानीय मीडिया में छपी इस तरह की खबरों पर स्वतः संज्ञान लेते हुए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने राज्य सरकार को नोटिस भी जारी किया। बाद में राज्य सरकार ने कुछ राहत पैकेज की भी घोषणा की। लेकिन समस्या जितनी बड़ी है, उससे निपटने के तरीके उतने ही छोटे। इसलिए किसानों के आम जीवन में इन घोषणाओं से कोई बेहतर नहीं आयी है।

कावेरी जल विवाद क्या है

तमिलनाडु के किसानों की तबाही की एक बड़ी वजह कावेरी नदी से कम मात्रा में पानी मिलने को माना जाता है। तमिलनाडु में लगातार दो सालों से अच्छी बरसात नहीं हुई है, जबकि कावेरी नदी से मिलने वाले पानी की मात्रा में भी कमी आयी है। दरअसल, कावेरी नदी के पानी के बटवारे को लेकर दोनों राज्यों के बीच डेढ़ सौ से ज्यादा सालों से विवाद चल रहा है। वर्ष 1892 में सबसे पहले मद्रास प्रेसीडेंसी और मैसूर के बीच कावेरी के पानी को लेकर समझौता हुआ था। तब से लगातार कावेरी के पानी को लेकर अलग-अलग स्थितियाँ बनती रही हैं। कावेरी के पानी पर कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल और पुदुचेरी अपना हक मानते हैं। इन्हें इनके हिस्से के अनुसार पानी दिया जाता है। इसमें कावेरी बेसिन में बारिश की स्थिति के अनुसार पानी की मात्रा को कम और ज्यादा किया जाना भी शामिल है। पिछले सालों में कावेरी बेसिन में भी अच्छी बारिश नहीं हुई है। इसके चलते भी कावेरी से मिलने वाले

पानी को लेकर टकराव बढ़ा है।

हमारे देश में दो या तीन राज्यों से गुजरने वाली नदियों के पानी को लेकर होने वाले टकराव और राजनीति नये या अनूठे नहीं है। सतलुज के पानी को लेकर पंजाब और हरियाणा के बीच अक्सर ही विरोध के स्वर उठते हैं और अलग-अलग पार्टियों द्वारा अपनी राजनीति चमकाने की कोशिशें होती हैं। जबकि, हरियाणा सरकार द्वारा दिल्ली को यमुना का पानी कम मात्रा में देने जैसी कोशिशें और चेतावनियाँ भी अक्सर ही मीडिया की सुर्खियाँ बटोरती हैं। हालाँकि, एक ही देश के दो राज्यों के हितों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करने वाले इन मुद्दों का समेकित समाधान करने की सोच किसी में भी नहीं दिखती। यहाँ पर राज्यों की क्षेत्रीय भावनाओं का इस्तेमाल करने की ही सूझ दिखती है। कावेरी के पानी को लेकर भी कर्नाटक और तमिलनाडु में इसी तरह से भावनात्मक राजनीति की सोच रही है। हालात इसलिए और ज्यादा खराब लगते हैं कि पानी को लेकर भारत-पाकिस्तान के बीच और भारत-बांग्लादेश के बीच तो महत्वपूर्ण समझौते हो जाते हैं, लेकिन देश के अन्दर ही अलग-अलग राज्यों में पानी के बटवारे को लेकर आपसी सूझ-बूझ और एक-दूसरे के हितों को तरजीह देते हुए कोई रास्ता नहीं निकाला जा रहा है।

किसानों की आत्महत्या

में 42 फीसदी का इजाफा

भारत किसानों का देश है। देश की सत्तर फीसदी आबादी गाँवों में रहती है। ये दो ऐसे वाक्य हैं, जिन्हें बचपन से ही पढ़ता-सुनता और जगह-जगह पर इस्तेमाल करता हुआ, हमारे देश का लगभग हर नागरिक बड़ा होता है। गाँवों की साफ-सुथरी हवा, ईमानदार जीवन के कसीदे पढ़े जाते हैं। लेकिन इन कसीदों के पीछे छुपी भयानक त्रासदियों का जिक्र कहीं नहीं होता। हकीकत तो यह है कि किसानों की आत्महत्या की दर में 2014 की तुलना में 2015 में 42

फीसदी की बढ़ोतरी हुई है। हमारे देश की कुल श्रमशक्ति का 70 फीसदी हिस्सा खेती में या उससे जुड़े व्यवसायों के जरिये अपनी आजीविका अर्जित करता है। ऐसे में किसानों और खेत मजदूरों की आत्महत्या की घटनाओं में बढ़ा इजाफा इस पूरे क्षेत्र की बदहाली और सरकारी उपेक्षाओं की हकीकत बयान करने के लिए काफी है।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आँकड़ों का विश्लेषण करते हुए टाइम्स ऑफ इंडिया ने सात जनवरी 2017 को किसानों की आत्महत्या पर रिपोर्ट प्रकाशित की थी। इसमें बताया गया है कि वर्ष 2014 में देश भर में 5650 किसानों ने आत्महत्या की थी। जबकि वर्ष 2015 में यह संख्या बढ़कर 8007 हो गयी। किसानों की सबसे ज्यादा आत्महत्याएँ महाराष्ट्र में हुईं। यहाँ 3030 किसानों ने अपनी जान दे दी। जबकि तेलंगाना में 1358 और कर्नाटक में 1197 किसानों ने खुद ही अपनी इहलीला समाप्त कर ली। इन तीनों राज्यों के अलावा, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ में भी किसान बड़े पैमाने पर आत्महत्या कर रहे हैं। 2015 में किसानों की आत्महत्याओं में इतना इलाफा तब था जबकि 2015 में बिहार, पश्चिम बंगाल, गोवा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, झारखंड, मिजोरम, नगालैंड और उत्तराखंड में किसानों के आत्महत्या की कोई घटना एनसीआरबी द्वारा दर्ज नहीं की गयी।

आत्महत्या के ये आँकड़े खेती की तबाही के साथ-साथ खेती से होने वाले पलायन की तरफ भी इशारा करते हैं। वर्ष 2014 में 6710 खेत मजदूरों ने अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली। जबकि वर्ष 2015 में इसमें कुछ हद तक गिरावट आयी। वर्ष 2015 में 4595 खेत मजदूरों ने आत्महत्या कर ली। खेत मजदूरों की मौत की संख्या में आयी इस कमी के पीछे खेती किसानों के काम से खेतीहर मजदूरों के पलायन को बड़ी वजह माना जा रहा है। दरअसल खेती की लगातार बिगड़ती हालत के चलते बड़े पैमाने पर खेत मजदूर खेती

के काम को छोड़कर अन्य कामधंधों की तरफ जाने को मजबूर हुए हैं। इसके चलते खेतिहर मजदूरों की आत्महत्या की दरों में कुछ कमी आयी है। लेकिन, ये मजदूर शहरों में जिन हालात में गुजर-बसर कर रहे हैं और उनके जीवन पर वहाँ आने वाले संकट क्या-क्या हैं, इस पर कहने को इन आँकड़ों में कुछ नहीं है।

सम्पदा पर कब्जेदारी के साथ ही बढ़ रही है बदहाली

किसानों की आत्महत्याओं को देश में घट रही कुछ अन्य चीजों के साथ जोड़कर देखने से ही इनके कारणों को ज्यादा अच्छी तरह से समझा जा सकता है। हमारे देश की एक फीसदी आबादी के पास वर्ष 2000 में पूरी देश की सम्पदा का 36.8 फीसदी

हिस्सा था। धन और सम्पदा पर 1 फीसदी लोगों की यह कब्जेदारी 2014 में बढ़कर 49 फीसदी हो गयी। जबकि, 2016 में देश की एक फीसदी आबादी के कब्जे में कुल धन सम्पदा का 58.4 फीसदी हिस्सा आ गया। इससे समझा जा सकता है कि हमारे देश में धन-सम्पदा के संकेन्द्रण की प्रक्रिया कितनी तेज है। पहले भी गरीबों का धन खिंच-खिंचकर अमीरों की तरफ जा रहा था। लेकिन, यह प्रक्रिया इतनी तेज नहीं थी। अब यह गति बेहद तेज हो गयी है। हमारे देश के बड़े कॉरपोरेट घराने क्यों इस सरकार को इतनी ज्यादा शह दे रहे हैं, धन के संकेन्द्रण की इस तेजी से भी समझा जा सकता है।

धन संकेन्द्रण की इस स्थिति की

तुलना अन्य देशों के साथ की जाए तो भी स्थिति की भयावहता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। चीन के एक फीसदी लोगों के पास धन-सम्पदा का 43.8 फीसदी हिस्सा है। जबकि इंडोनेशिया के एक फीसदी आबादी के पास कुल धन-सम्पदा का 49.3 फीसदी है। ब्राजील में यह 47.9 प्रतिशत व अफ्रीका में 41.9 प्रतिशत है। धन और सम्पदा का कुछ हाथों में सिमटने की यह प्रक्रिया तो पूरी दुनिया में ही तेज गति से चल रही है। लेकिन हमारे देश में यह बुलेट ट्रेन की रफ्तार से चलने लगी है। अब इस बुलेट ट्रेन की रफ्तार से कितने किसान और मजदूर कुचलकर मारे जा रहे हैं, इसकी परवाह यह सरकार भला क्यों करेगी।



राजेन्द्र कुमार की दो कविताएँ

काला धन उवाच

धन तो धन होता है
क्या काला क्या सफेद !
मुझे काला कहकर कोसने वाले
हे तात, तुम्हारी ही छत्र-छाया
पलने वाले धनकुबेरों ने
मुझे पूरा भरोसा दिया है
'मामेकं शरणं ब्रज ।'
क्या सचमुच
मेरा समूल अन्त हो जाएगा
तुम्हारी घोषणा मात्र से?
मैं तो आत्मा हूँ
देश के तथाकथित विकास की,
और आत्मा!
'नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः'
पुराना रूप छोड़कर नये नोटों के रूप में
वैसे ही धारण करता रहूँगा
'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।'

अच्छे दिन

कितने अच्छे दिन आ गये हैं!
लोकतंत्र अपनी धवल
दाढ़ी में मुस्कुरा रहा है
भाषा को सख्त ताईद कर दी गयी है कि
वह अपने उस ढीठ मुहावरे पर सख्त नजर रखे
जो किसी दाढ़ी में तिनका देखने की
गुस्ताखी कर सकता है
कितने अच्छे दिन आ गये हैं,
लोकतंत्र खुशहाली का नया पाठ रच रहा है
कि जो जिस हाल में है खुश रहे
न ईर्ष्या करे किसी की अमीरी से
न फिर करे किसी की गरीबी की
बस आत्ममुग्ध रहे,
लुब्ध रहे उस लोकतंत्र पर
जो अपनी धवल दाढ़ी में मुस्कुरा रहा है।



सीमाहीन अन्याय : असीमानंद और साईबाबा पर अदालती फैसले

-आनन्द तेलतुम्बड़े

महज 24 घंटे से भी कम समय के भीतर ऐसे दो फैसले आये, जिनकी वजह से देश भर में सिहरन की एक लहर दौड़ गयी। पहला फैसला 7 मार्च को महाराष्ट्र की गढ़चिरोली सत्र अदालत से आया, जिसमें दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जी. एन. साईबाबा और चार दूसरे लोगों को नक्सली गतिविधियों में मदद करने और उन्हें बढ़ावा देने के लिए गैर कानूनी गतिविधियाँ (निरोधक) अधिनियम (यूएपीए) और भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं के तहत आजीवन कैद की सजा सुनायी गयी। छठे आरोपित को 10 साल के कठोर कारावास की सजा सुनायी गयी।

दूसरा फैसला अगले दिन नेशनल इन्वेस्टिगेशन एजेंसी (एनआईए) की जयपुर विशेष अदालत का था, जिसमें स्वघोषित साधु और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) के पूर्व कार्यकर्ता स्वामी असीमानंद और दूसरे छह लोगों को बरी कर दिया गया। ये लोग 2007 के समझौता एक्सप्रेस विस्फोट (जिसमें अड़सठ लोग मारे गये थे और दर्जनों घायल हुए थे), हैदराबाद मक्का मस्जिद विस्फोट (सोलह मौतें, सौ जख्मी) और अजमेर दरगाह विस्फोट (तीन मौतें, सत्रह जख्मी) मामलों में अभियुक्त थे। फैसले ने सनसनीखेज अजमेर दरगाह धमाके के मामले में तीन दूसरे लोगों को कसूरवार ठहराया।

जाहिर तौर पर, अगर कठोर यूएपीए द्वारा तैयार की गयी अपराध की धारणा को छोड़ दें तो साईबाबा के मामले में अदालत द्वारा किसी अपराध का जरा भर भी हवाला नहीं दिया गया है। वहीं दूसरा फैसला जिस

मामले के बारे में है, उनमें लोग सचमुच में मारे गये थे, जब अपराधियों ने 13वीं सदी की इस पवित्र दरगाह पर पाँच हजार श्रद्धालुओं के एक मजमे के बीच बम धमाके किए। लेकिन इस मामले में मुख्य अभियुक्त को ही छोड़ दिया गया। अगर कोई और वक्त होता तब भी इन फैसलों को दुर्भाग्यपूर्ण संयोग मानते हुए उन पर अफसोस जाहिर किया जाता। लेकिन भाजपा के सत्ता में होने से ये सिर्फ एक मनहूस चलन को ही मजबूती देते हैं कि न्यायपालिका की संस्थागत साख की कीमत पर हिन्दुत्व के अपराधियों का बचाव किया जा रहा है और इसके विरोधियों को कुचला जा रहा है और इसमें यह संस्था इसकी फरमाबरदार की भूमिका निभा रही है।

असीमानंद की मासूमियत

11 सितम्बर के बाद संयुक्त राज्य अमरीका जब पूरी दुनिया में मुसलमानों को आतंकवादियों के रूप में बदनाम कर रहा था, तो जायनिस्टों (यहूदी कट्टरपंथियों) के बाद इसका सबसे बड़ा फायदा भारत में हिन्दुत्ववादी ताकतों ने उठाया। संयुक्त राज्य के 'आतंक के खिलाफ युद्ध' ने मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुत्ववादी ताकतों की ऐतिहासिक रंजिश की पुष्टि करते हुए इसे बढ़ावा दिया। हालाँकि आजादी के बाद पहली आतंकी कार्रवाई खुद इन्हीं हिन्दुत्ववादी ताकतों द्वारा की गयी थी, जब उन्होंने मुसलमानों के प्रति नरमी दिखाने के लिए मो. क. गांधी की हत्या कर दी थी। लेकिन अजीब विरोधाभासी तरीके से आतंकवादी होने की छवि मुसलमानों के साथ जोड़ दी गयी है। पहली बार, असीमानंद के कबूलनामों

ने हिन्दुत्ववादियों को आतंकवादी समूह के रूप में उजागर किया। हालाँकि उसका यह कहना था कि उनका आतंक मुसलिम आतंक के जवाब में था, लेकिन जिन ज्यादातर हमलों को मुसलिम हमलों के रूप में देखा जाता है, मुमकिन है कि वे भी इन्हीं लोगों की करतूतें हों।

तत्कालीन गृह मंत्री पी. चिदम्बरम ने अगस्त 2010 में पहली बार राज्य पुलिस प्रमुखों को 'भगवा आतंकवाद' के खतरों से आगाह कराया था। तब गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने राज्य में भगवा गौरव आन्दोलन चला कर इसका जवाब दिया। यह सब असीमानंद के कबूलनामे की वजह से ही हुआ था, जो पुलिस द्वारा हिरासत में यातना देकर हासिल नहीं किया गया था। यह बॉटनी में पोस्ट ग्रेजुएट और मंजे हुए आरएसएस कर्मी असीमानंद उर्फ जतिन चटर्जी का एक बयान था, जो अनेक आतंकी साजिशों का मास्टरमाइंड था। यह क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 164 के तहत 18 दिसम्बर 2010 को तीस हजारी अदालत में मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट दीपक दबास के सामने दिया गया एक बयान है, जो इंडियन एविडेंस एक्ट 1872 के तहत सबूत के दायरे में आता है। उसने (अदालत के सामने) यह कबूल किया कि वह और दूसरे हिन्दू कार्यकर्ता मुसलिम धार्मिक स्थलों पर बम धमाकों में शामिल थे, क्योंकि वे हरेक इसलामी आतंक का जवाब 'बम के बदले बम' की नीति से देना चाहते थे। इसके अलावा, कारवाँ पत्रिका के साथ एक टेप किए इंटरव्यू में स्वामी ने यह उजागर किया था कि 2006 से 2008 के बीच के भयानक

धमाकों की जिम्मेदारी उसे मोहन भागवत ने सौंपी थी, जो तब आरएसएस के महासचिव थे, लेकिन उन्होंने सावधान किया था कि “...तुम इसको संघ से नहीं जोड़ना।” बाद में असीमानंद इन दोनों ही साफ-साफ और नहीं पलटे जा सकने वाले बयानों से मुकर गया।

असीमानंद का कबूलनामा, अनेक मामलों की तपतीश में हासिल होने वाले तथ्यों से मेल भी खाता था। समझौता एक्सप्रेस धमाके (2007) में अभियुक्त दयानंद पाण्डेय के लैपटॉप से जब ऑडियो टेपों ने यह पुष्टि की कि हिन्दुत्व गिरोह देश भर में बम धमाकों की साजिश रच कर उन्हें अंजाम दे रहे थे, जिसमें मालेगाँव (2006 और 2008), अजमेर शरीफ (2007) और मक्का मस्जिद (2007) धमाके शामिल हैं। पुलिस ने इन सभी मामलों में दर्जनों मुसलमान युवकों को पकड़ा, हिरासत में रखा और यातनाएँ दीं तथा हमेशा की तरह इन मामलों में इस्लामी मॉड्यूलों के शामिल होने की कहानी गढ़ी। लेकिन इन मामलों में हिन्दुत्व गिरोह के हाथ को उजागर करने का श्रेय महाराष्ट्र एटीएस के तत्कालीन प्रमुख हेमन्त करकरे को जाता है, जिनको 26 नवम्बर के हमले में मार दिया गया। लेकिन गढ़ी हुई कहानियों का झूठ उजागर किये जाने के बाद भी, मुसलमान नौजवान 10 बरसों तक कैद में रहे और तब जाकर अदालत ने उन्हें बरी किया। इस भंडाफोड़ ने कम से कम दो जिन्दगियाँ लीं : करकरे की मौत जो अभी भी एक रहस्य है और शाहिद आजमी की मौत, जिसको एक देशभक्त गुंडे का गुस्सा कह कर निबटा दिया गया। राजनीतिक इच्छाशक्ति के बिना यह मामला घिसटता रहा और 2014 में भाजपा के सत्ता में आने के बाद से, उनको अपने हाथ में लेने वाली एनआईए ने सभी सरगनाओं को छुड़ाने की साजिश रचनी शुरू कर दी है। मई 2016 में इसने साध्वी प्रज्ञा ठाकुर, शिवनारायण कलसांगरा, श्याम साहू, प्रवीण तक्कलकी, लोकेश शर्मा और धन सिंह तथा पांच दूसरे लोगों पर से

2008 के मालेगाँव धमाके के मामले में आरोप वापस ले लिए, जबकि करकरे की तपतीश को ‘सवालों के घेरे में’ और ‘सदिग्ध’ बताते हुए बाकी सभी 10 अभियुक्तों पर से कठोर मकोका कानून के तहत आरोपों को हटा लिया गया है, जिसमें ले. कर्नल प्रसाद श्रीकांत पुरोहित शामिल है।

साईबाबा का अपराध

साईबाबा की 90 फीसदी विकलांगता और गिरती हुई सेहत के बावजूद, जिस जोरदार तरीके से राज्य ने उनकी जमानत का विरोध किया और अदालतों ने जिस तरह से उसे स्वीकार किया, उससे यह साफ था कि राज्य माओवादियों के ‘शहरी नेटवर्क’ के लिए इसे एक सबक बनाना चाहता था। इस मामले की डॉ. विनायक सेन के मामले के साथ अनोखी समानता है, जिनकी ऊँची प्रोफेशनल प्रतिष्ठा, सार्वजनिक सेवा के बेदाग रेकॉर्ड और उनके प्रति पूरी प्रगतिशील दुनिया की मुखर हमदर्दी के बावजूद उन्हें रायपुर सत्र अदालत द्वारा आजीवन कैद की सजा सुनायी गयी और उन्हें लगातार जमानत देने से मना किया जाता रहा, ताकि यह उन सबके लिए एक मिसाल बन जाए जिनके दिल में माओवादियों को लेकर जरा भी नरमी है। राज्य के इस मंसूबे में विनायक सेन की बेगुनाही ही सबसे बड़ा कसूर बन गयी। साईबाबा के मामले में, महाराष्ट्र सरकार ने छत्तीसगढ़ को भी पीछे छोड़ दिया है, जिसने अपने शिकार के रूप में राजधानी के एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में काम करने वाले एक 90 फीसदी विकलांग प्रोफेसर को चुना। साईबाबा एक रेडिकल कार्यकर्ता रहे हैं और उन्होंने संघर्षरत जनता के लिए, जिसको सरकार पूरी तरह माओवादी कहती है, अपनी हमदर्दी को कभी छुपाया नहीं। लेकिन ढीलचेयर पर चलने वाला एक शख्स, जो बिना किसी मदद के चल-फिर भी नहीं सकता, वह सोचने और लिखने से आगे जाकर क्या कुछ कर सकता है? लेकिन राज्य ठीक यही बात दिखाना चाहता है। अगर वह साईबाबा के साथ ऐसा कर सकता है, तो

वह किसी के साथ भी ऐसा कर सकता है। इस मामले में उनके सह-आरोपितों हेम मिश्रा, जो जेएनयू के छात्र रहे हैं, और प्रशान्त राही को भी, जो एक स्वतंत्र पत्रकार और कार्यकर्ता हैं, आतंकित करने के इस मंसूबे का हिस्सा बनाया गया। बाकी तीन आदिवासी थे, ताकि इस असम्भव गठजोड़ को बना कर पेश किया जा सके।

गढ़चिरोली सत्र अदालत ने उन सभी को यूएपीए की धाराओं 13, 18, 20, 38 और 39 के साथ साथ आईपीसी की धारा 120-बी के तहत कसूरवार ठहराया। उन्हें प्रतिबंधित पार्टी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और इसके “फ्रंट” रेवॉल्यूशनरी डेमोक्रेटिक फ्रंट (आरडीएफ) के साथ रिश्ते रखने के लिए सजा दी गयी। विनायक सेन के मामले में ही जस्टिस मार्कण्डेय काटजू और ज्ञान सुधा मिश्रा की पीठ ने यह साफ-साफ कहा था कि महज एक प्रतिबंधित संगठन का सदस्य होना किसी को अपराधी नहीं बनाता, जब तक कि उसने हिंसा का सहारा न लिया हो या लोगों को हिंसा के लिए न भड़काया हो। मई 2015 में केरल उच्च न्यायालय ने माओवादी होने के संदेह में 2014 में पकड़े गये श्याम बालाकृष्णन को यह कहते हुए रिहा कर दिया कि “माओवादी होना कोई अपराध नहीं है।” उच्च न्यायालय ने यह गहरी बात कही कि “लोगों के लिए एक उम्मीद रखना एक बुनियादी मानवाधिकार है” और “कानूनों से भटकाव को वर्दी की ओट में” छुपाने के लिए राज्य की आलोचना की, जहाँ कानून को “बचाने वाले ही इसका उल्लंघन करने वाले” बन जाते हैं। इसके बावजूद आरोपितों के माओवादी रिश्तों को मुद्दा बनाया गया। यहाँ 827 पन्नों के फैसले पर बिंदुवार विचार करना मुमकिन नहीं है, लेकिन जैसा कि वकीलों ने इसके बारे में ध्यान दिलाया है, इस फैसले में कानूनों की साफ-साफ अनदेखी की गयी है और तथ्यों की तरफ से जानबूझ कर आँखें मूँदी गयी हैं। साफ जाहिर है कि यह फैसला पुलिस और राजनेताओं के दबावों

के रंग में रंगा हुआ है, जैसा कि ज्यादातर निचली अदालतों के मामलों में होता है।

राज्य की बदमाशी

ये दोनों मामले राज्य की बदमाशी को उजागर करते हैं। नवउदारवादी दौर में, राज्यों में फासीवादी होने के अंतर्निहित रुझान होते हैं, ताकि वे बाजार की हुकूमत को सुनिश्चित कर सकें। ये रुझान पूरी दुनिया में देखे जा रहे हैं, वहीं भारत में ब्राह्मणवाद की वर्चस्वशाली विचारधारा के साथ इसका अच्छा ताल-मेल बैठ गया है। चाहे कोई भी दल सत्ता में रहे, भारत में राज्य हमेशा ही वही पूँजीवाद-परस्त, हिन्दू-परस्त, ऊँची जातियों का हिमायती और मुट्ठी भर लोगों की हुकूमत बना रहता है। भाजपा इस पर जिस बेशर्मी से काबिज हो रही है, उससे बस यह राज्य और आक्रामक और मर्दानगी भरा बन रहा है, जिसकी झलक मोदी के रोबीले अन्दाज में देखी जा सकती है। बहुत करीब दिख रहे हिन्दू राष्ट्र के अपने लक्ष्यों को हासिल करने की खातिर, यह प्रतिरोध को नेस्तनाबूद करने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। इस दिशा में संस्थागत रुकावटों को इसने मोटे तौर पर अपने भगवाकरण अभियान के जरिए दूर कर दिया है, अब यह बची-खुची असहमतियों को भी कुचल रहा है। हकीकत ये है कि 2014 के बाद से यह रुझान इतना साफ हो गया है कि ऐसे फैसलों का अंदाजा आप पहले से ही लगा सकते हैं। गुजरात में 2002 के कत्लेआम को अंजाम देने वाले सभी लोग कानून के फंदे से बाहर जा चुके हैं, बल्कि उनको अच्छा खास इनाम तक मिल चुका है। और तीस्ता सीतलवाड़ जैसे जिन लोगों ने प्रतिरोध खड़ा करने की कोशिश की है, उन्हें अलग-अलग तरह से परेशान और आतंकित किया जा रहा है।

अपने दावे के उलट हिन्दुत्ववादी ताकतें हमेशा ही अपने काम को बेरहमी

से अंजाम देती रही हैं; आखिर इस दुनिया में उनके बुनियादी प्रेरणास्रोत हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग रहे हैं और बुद्ध जैसे लोगों से वे नफरत करते आए हैं। हिन्दुत्व के पूर्वज सावरकर 'राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दुओं का सैन्यीकरण' करना चाहते थे। 1999 में ग्राहम स्टेंस और उनके दो बेटों की जला कर हत्या, 2002 में दुलीना में पाँच दलितों और 2015 में दादरी में मोहम्मद अखलाक की पीट पीट कर हत्या; उना के पास मोटा समाडियाला में चार दलित नौजवानों की निर्मम पिटाई या फिर नरेंद्र दाभोलकर, गोविंद पानसारे और कलबुर्गी की हत्याएँ इन ताकतों के क्रूर व्यक्तित्व की झलक देती हैं। आखिरकार जब वे अपनी सांस्कृतिक जड़ों का दम भरते हैं, तो हिंसा ही उनकी पहचान के रूप में सामने आती है, क्योंकि उनका धर्म ऐसा अकेला धर्म है, जिसके देवता हथियारों से लैस हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि राज्य भी अन्यायपूर्ण, हिंसक और अनैतिक बन जाए।

यह कल्पना करना एक गलतफहमी है कि इंसाफ के नाम पर साईबाबा और उनके सह-आरोपितों पर इस अन्यायपूर्ण और अनैतिक तरीके से, निर्ममता से पेश आना उनके जैसे दूसरे लोगों के लिए एक सबक होगा। इसका कोई सबूत नहीं है कि ऐसे 'सबक' कभी अपने मकसद में कामयाब उतरे हों। इसके उलट, यह पुलिस मानसिकता माओवादियों के निर्माण को ही तेज करेगी। ये बदमाश राज्य की आतंकवादी कार्रवाइयों से लड़ने के जनता के इरादे को ही मजबूत करेगी।

(अनुवाद : रेयाज उल हक)



साथ है विश्वास है हो रहा विकास है

यह शीर्षक भारत सरकार के वित्त मंत्रालय के 'निवेश और लोक परिसम्पत्ति प्रबंधन विभाग' की वेबसाइट से उठाया गया है। पहले इस विभाग का नाम विनिवेश विभाग था लेकिन मोदी सरकार ने 2016 में इसमें 'लोक परिसम्पत्ति प्रबंधन' का रंगरोगन किया। शीर्षक के बगल में गाँधी जी का चश्मा (लगभग 2 प्रतिशत उपकर) और मेक इन इंडिया का दहाड़ता हुआ कलपुर्जा शेर है। इस विभाग का एकमात्र काम है विनिवेश करना यानी देश की सम्पत्ति को बेचना। यह विभाग सरकार के सभी अन्य विभागों और मंत्रालयों से कहीं ज्यादा मुस्तैद है।

बावजूद इसके कि यह विभाग अपने निर्धारित लक्ष्यों को नहीं पूरा कर पाया फिर भी यह देश की काफी सम्पत्ति का प्रबंधन करने में सफल रहा है।

अभी हाल में ही भारतीय रेल का कुशल प्रबंधन करते हुए इसके 5 स्टेशन बेच दिये गये। ऐयर इंडिया को बेचने सॉरी प्रबंधन की धमाकेदार घोषणा हो चुकी है। इससे पहले सरकार एचसीएल, नाल्को, हुडको, एनटीपीसी, एनएचपीसी, सेल, पीएफसी, आईओसीएल, ओएनजीसी आदि का प्रबंधन करते इनकी हिस्सेदारियाँ बेच चुकी हैं।

सरकार की कुशलता का आलम यह है कि जहाँ कांग्रेस सरकार अपने अन्तिम साल में देश बेचने के अपने निर्धारित लक्ष्य (40 हजार करोड़ रुपये) का एक चौथाई को ही हासिल कर पायी थी वहीं नयी सरकार प्रबंधन के जरिये साल 2016-17 में देश बेचने के अपने निर्धारित लक्ष्य (56 हजार 500 करोड़) से मात्र दस हजार करोड़ रुपये पीछे रही।

सरकार पर अगर जनता की भक्ति बरकरार रही तो निश्चय ही सरकार पूरे देश को बेचकर विश्वगुरु का तमगा हासिल कर ही लेगी।



भारत से दूर होता कश्मीर

-पारिजात

“...मैं चाहता हूँ कि वे (पत्थर फेंकने वाले) हमारे ऊपर पत्थर फेंकने के बजाय हथियारों से गोलाबारी करते। तब मुझे खुशी होती। तब मैं वह कर सकता, (जो मैं करना चाहता हूँ।)”

-सेना प्रमुख, जनरल बिपिन रावत (इंडियन एक्सप्रेस- 29 मई)

कश्मीर जल रहा है और भारतीय सेना के प्रमुख कश्मीर की जनता को ललकार रहे हैं। जनरल रावत का यह बयान उस वक्त आया जब एक कश्मीरी युवक को अपनी गाड़ी के आगे बाँधकर मानव ढाल के रूप में परेड कराने वाले मेजर लितुल गोगोई सैन्य कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी का सामना कर रहे थे। मेजर गोगोई की इस हरकत की चारों ओर घोर निन्दा हुई। लेकिन सेना प्रमुख ने इन्क्वायरी की परवाह नहीं करते हुए न केवल मेजर गोगोई का बचाव किया बल्कि उन्हें पुरस्कार देकर सम्मानित भी किया। कुछ केन्द्रीय मंत्री भी मेजर गोगोई के पक्ष में बयान दे चुके हैं।

जनरल रावत ने अपने बयान में यह भी कहा कि कश्मीर में एक “गंदी जंग” चल रही है। इस बयान ने कश्मीर के साथ भारतीय राज्य के सम्बन्धों को स्पष्ट कर दिया। इस ‘गंदी जंग’ में आधुनिक हथियारों से लैस भारतीय सेना के मुकाबिले में खड़े हैं पत्थरबाज स्कूली लड़के लड़कियाँ, कॉलेज के विद्यार्थी और राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी। ये जंग दिन ब दिन भारतीय राज्य के हाथों से निकलती जा रही है। पूर्व गृहमंत्री पी. चिदम्बरम ने हाल में चिन्ता जाहिर करते हुए कहा था कि भारत कश्मीर में हारने की तरफ बढ़ रहा है। सेना प्रमुख भी

जाने-अनजाने इस बात की तस्दीक करते हुए कह गये कि “...जब किसी देश में जनता सेना से डरना बन्द कर दे तो (वह) देश बर्बाद हो जाता है।” सेना प्रमुख की इस चिन्ता के यही मायने हैं कि कश्मीर में जारी इस “गन्दी जंग” में जनता ने सेना से डरना बन्द कर दिया है।

कश्मीर में जंग

कश्मीर की जंग के बीज आजादी से पहले ही पड़ गये थे। ब्रिटिश शासित भारत में 562 रियासतें थीं जो ब्रिटिश शासन के तहत सम्प्रभु थीं। आजादी के बाद ये रियासतें अपनी तकदीर चुनने को आजाद थीं। लेकिन ऐसा महज तकनीकी रूप से ही था। दो राष्ट्र के सिद्धान्त के अनुसार इन रियासतों को भारत और पाकिस्तान में से किसी एक में शामिल होना ही था। बटवारे के वक्त कश्मीर को अपने में शामिल करने के लिए दोनों ही देशों के शासकों ने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। जूनागढ़ और हैदराबाद के बटवारे को लेकर भी विवाद था। स्वतंत्र भारत के पहले गर्वनर जनरल माउण्टबेटेन चाहते थे कि हैदराबाद और जूनागढ़ भारत में रहें और कश्मीर पाकिस्तान में। लौह पुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल ने 13 नवम्बर 1947 को जूनागढ़ में एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि “पाकिस्तान जूनागढ़ के मुकाबले में कश्मीर को खड़ा करना चाहता है। जब हमने इस समस्या के लोकतांत्रिक समाधान का प्रश्न उठाया तो पाकिस्तान ने हमसे कहा था वह इस मसले पर विचार कर सकता है अगर यही नीति कश्मीर के मामले पर भी लागू हो। हमने इसका जवाब देते हुए कहा था कि हम कश्मीर के मामले में इस नीति को लागू करने पर सहमत हैं अगर पाकिस्तान

हैदराबाद पर सहमति बना ले तो।” (ए जी नूरानी, द रूट्स ऑफ 2017 फ्रंटलाइन जून 2017) यानी हैदराबाद को भारत में शामिल कर लिया जाय और कश्मीर को पाकिस्तान में। प्रसिद्ध किताब *फ्रीडम ऐट मिड नाइट* के लेखकों-- कॉलिन्स और लेपियर ने माउण्टबेटेन से हुई बातचीत के आधार पर माउण्टबेटेन और कश्मीर के शासक हरि सिंह के बीच 1947 में हुई बैठक का हवाला दिया है। इसके अनुसार राजा हरि सिंह ने माउण्टबेटेन से कहा कि वे पाकिस्तान के साथ नहीं जाना चाहते। लेकिन वे भारत में भी शामिल नहीं होना चाहते क्योंकि उन्हें लगता है कि उनकी जनता ऐसा नहीं चाहती। वे आजाद रहना चाहते थे। (स्रोत वही)

कश्मीर में कभी जनमतसंग्रह नहीं हो पाया। 1930 से ही एक जनतांत्रिक “नया कश्मीर” की माँग कर रहे नेशनल कान्फ्रेंस के नेता और 1947 में सामयिक रूप से भारत में विलय होने के बाद जम्मू कश्मीर के पहले प्रधानमंत्री शेख अब्दुल्ला को 11 साल की कैद में रखकर भारतीय राज्य ने कश्मीर में जनमतसंग्रह के अपने वादे से मुकरने का पहला अघोषित ऐलान किया। आधिकारिक रूप से भारत सरकार आज भी कश्मीर की समस्या को कानून और व्यवस्था की समस्या मानती है जिसके सुधारने के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के मुताबिक जनमतसंग्रह होना दशकों से मुलतवी है। भारतीय मीडिया इसे “प्रॉक्सी वॉर” कहता है और भारतीय सेना के प्रमुख इसे कहते हैं एक “गंदी जंग”।

कश्मीर में भारतीय राज्य

भारतीय राज्य की अखण्डता को बरकरार रखने के लिए जम्मू-कश्मीर में

आज 6 से 7 लाख सैनिक तैनात हैं। यह संख्या भारतीय सेना के आधे से अधिक है। जिन उग्रवादियों से निपटने के लिए यह बन्दोबस्त किया गया है, हाल ही में आये सरकारी आँकड़ों के मुताबिक उनकी संख्या महज 150 है, जिसे खींचतान कर और बढ़ा दिया जाय तो बमुश्किल 250 तक पहुँचती है। ऐसे में सैन्य क्षेत्र की सघनता के मामले में कश्मीर, उस वक्त के अफगानिस्तान और ईराक से कहीं आगे है जब अमरीकी सेनाएँ वहाँ युद्ध कर रही थी। जनसंख्या और सेना की तैनाती के अनुपात से कश्मीर एक खुली जेल में बदल गया है। इस खुली जेल में कश्मीर की जनता हत्या, बलात्कार, बर्बरता और प्रताड़ना के कई दौर देख चुकी है। उन पर भारतीय राज्य की खामोशी को सुन चुकी है और आज स्थिति यहाँ तक बिगड़ गयी है कि जनरल रावत के अनुसार जनता ने सेना से डरना बन्द कर दिया है।

कश्मीर की जनता ऐसी तमाम घटनाओं की भुक्तभोगी और चश्मदीद रही है जो कश्मीर पर भारत के दावे को नैतिक रूप से सन्देहास्पद बनाने के लिए काफी हैं।

सन 1991 में 23/24 फरवरी को सेना की 4 राजपुताना राइफल के जवान बम तलाशी के लिए कुनान पोशपोरा गाँव में घुसे। सभी पुरुषों को पकड़ लिया गया, पूछताछ के बहाने बर्बरता की हद तक उन्हें शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना दी गयी। बन्दूक की नोक पर छोटी बच्चियों, जवान औरतों और बूढ़ी महिलाओं के साथ उनके बच्चों के सामने ही बलात्कार किया गया। बलात्कार की शिकार महिलाओं में वे औरतें भी शामिल थीं जिन्होंने अभी हाल ही में बच्चा जना था। लगभग 100 महिलाओं के साथ बलात्कार किया गया। ब्रिटेन के एक समाचार पत्र 'द इंडिपेंडेंट' ने इस पर एक विस्तारित खबर छपी। एक महिला ने बताया कि एक-एक कर 6 लोगों ने उसका बलात्कार किया और उसके 5 साल के बेटे को इसे देखने के लिए मजबूर किया गया।

25/26 फरवरी को गाँववालों ने

कुपवाड़ा के डिप्टी कमिश्नर और पुलिस अधिकारियों को पत्र लिखकर इसकी सूचना दी। 25/26 फरवरी के पत्र और विभिन्न जगहों पर इसके खिलाफ हुए विरोध प्रदर्शनों के बाद डिप्टी कमिश्नर ने गाँव का दौरा किया और मामले की जाँच की। 7 मार्च को उन्होंने पत्र लिखकर डिविजनल कमिश्नर ऑफ कश्मीर तथा अन्य अधिकारियों व स्थानीय पुलिस अधिकारियों को सूचित किया। पत्र मिलने के बाद त्रेहगाँम पुलिस स्टेशन में सेना के जवानों के खिलाफ विभिन्न धाराओं में मुकदमा दर्ज किया गया। बचाव पक्ष ने प्राथमिकी दर्ज कराने में हुई देरी को मुद्दा बनाया और कहा कि "सभी आरोप बेबुनियाद हैं। लोगों ने खुद कहानी गढ़ी है जो कि उग्रवादियों के प्रति हमदर्दी रखते हैं।" 21 अक्टूबर 1991 को पुलिस ने मामला बंद कर दिया। (द ह्यूमन राइट्स क्राइसिस इन कश्मीर द्वारा एशिया वॉच और फिजिशियन फॉर ह्यूमन राइट्स)

मई 1990 में एक नयी नवेली दुल्हन मुबीना बानो को बीएसएफ के जवानों ने रोका और उसके और उसकी चाची के साथ बलात्कार किया। वे उस वक्त शादी की एक दावत में जा रही थी। सुरक्षा बल के जवानों ने दावत में अन्धाधुन्ध गोलीबारी की जिसमें एक व्यक्ति की मौत हो गयी और कई अन्य घायल हो गये। दावत में मरे व घायल हुए लोगों के बारे में सरकार ने दावा किया कि वे दोनों तरफ से हो रही गोलीबारी के बीच फँस गये थे।

विरोध प्रदर्शनों के बाद जब मामला ज्यादा प्रचारित हुआ तो स्थानीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रेस ने जाँच के आदेश दिये जिसमें बलात्कार की पुष्टि हो गयी। एशिया ह्यूमन वॉच और फिजिशियन फॉर ह्यूमन राइट्स संस्था के अनुरोध पर भारत सरकार ने सूचना दी कि "इस तर्क के विपरीत कि मुबिना गनी मामले में सुरक्षा बलों को कभी कोई सजा नहीं दी गयी, एक आपराधिक मामला दर्ज करने और जाँच करने के बाद सीमा सुरक्षा बल के 7 जवानों को निलम्बित कर दिया गया। ये जाँच पुलिस

ने नहीं बल्कि सैन्य कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी ने की थी।"

30 मई 2009 की एक अन्य घटना में 22 साल की नीलोफर जान और उसकी 17 साल की ननद आयशा जान के मृत शरीर सोपिया जिले में सीआरपीएफ के कैम्प के नजदीक ही पाये गये। उनके परिवार वालों ने सुरक्षा बलों पर अपहरण, बलात्कार और हत्या का आरोप लगाया। अगले दिन पुलिस ने एक प्रेस बयान जारी किया कि मृतकों के शरीर पर कोई निशान नहीं हैं। लेकिन दो घण्टे बाद ही बयान वापिस ले लिया। 1 जून को तत्कालीन मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्लाह ने सेवानिवृत्त न्यायाधीश मुजफ्फर जान के नेतृत्व में एक सदस्यीय जाँच समिति का गठन किया। 10 जुलाई को जान ने अपनी रिपोर्ट में दोनों महिलाओं के साथ बलात्कार की पुष्टि की और कहा कि जिस जगह उनके शव पाये गये (कैम्प के नजदीक) वहाँ आम नागरिकों का पहुँचना मुश्किल है। इस रिपोर्ट के साथ एक परिशिष्ट भी जुड़ा था जिसमें बताया गया था कि हत्या महिलाओं के परिजनों ने की थी।

रिपोर्ट प्रकाशित होने के दो दिन बाद ही जस्टिस जान ने यह कहते हुए खुद को रिपोर्ट से अलग कर लिया कि पुलिस ने उनकी रिपोर्ट के साथ छेड़छाड़ की है। उनके नकार के बावजूद परिशिष्ट को इसमें शामिल रखा गया।

कश्मीर के नागरिक और मानवाधिकार संगठनों की एक रिपोर्ट के मुताबिक जनवरी 1989 से 30 जून 2009 तक कश्मीर में 92,870 हत्याएँ, 6959 हिरासत में हुई हत्याएँ, 11,6267 आम नागरिकों की गिरफ्तारी और 9876 मामले महिलाओं के साथ बलात्कार/गिरोहबन्द बलात्कार और छेड़छाड़ के दर्ज किये गये।

जेण्डर एण्ड मिलिटरीजेशन इन कश्मीर की लेखिका सीमा काजी ने 2005 में सेना के लैफ्टिनेंट कर्नल वी के बत्रा का साक्षात्कार लिया था। भारतीय सेना पर बलात्कार के आरोपों पर लैफ्टिनेंट कर्नल

बन्ना ने जवानों का बचाव करते हुए कहा था कि “जवान बहुत ही तनावपूर्ण स्थितियों में काम करते हैं।”

लैफ्टिनेंट कर्नल ने आरोपों को खारिज नहीं किया, इसके लिए उन्होंने उन परिस्थितियों को जिम्मेदार बताया जिसमें जवान रहते हैं। क्या यह बयान पिछले साल मुलायम सिंह यादव के इस बयान से कि जवानी में लड़कों से गलतियाँ हो जाती हैं, कुछ अलग है?

जहाँ तक न्याय की बात है तो कश्मीरी जनता भारतीय राज्य से इसकी उम्मीद छोड़ चुकी है। कश्मीरी जनता की जिन्दगियों और मानवाधिकार के घोर उल्लंघनों के बावजूद सेना के जवानों पर दण्डात्मक नहीं बल्कि अनुशासनात्मक कार्रवाई ही होती है। 2004 में सेना के मेजर रहमान को हंदवाड़ा जिले के बदर पयान गाँव में एक 30 साल की महिला और उनकी 8 साल की बेटी के साथ बलात्कार के आरोप में अपराधी घोषित किया गया। सजा के तौर पर उन्हें नौकरी से बरखास्त कर दिया गया। मुबिना गनी बलात्कार मामले में वीएसएफ के 7 जवानों को अपराधी मानते हुए सैन्य कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी ने सातों को नौकरी से बरखास्त कर दिया। ऐसे ही न जाने कितने दर्जशुदा और जबानी मामलें हैं जिन्होंने कश्मीरी जनता के दिलों में भारतीय राज्य से दूरी पैदा की है। 2010 में कुपवाड़ा जिले के सुदूर मचली क्षेत्र में सेना ने फर्जी एनकाउण्टर में 3 नौजवानों की गोली मारकर हत्या कर दी जिसका पूरी घाटी में जमकर विरोध हुआ। इस विरोध प्रदर्शन का अन्त 120 नागरिकों की मौत से हुआ। मरने वालों में 34 लोगों की उम्र 11 से 20 साल के बीच थी, 44 की उम्र 21 से 30 के बीच थी तथा 5 से 10 साल के बीच के 3 बच्चे भी इसमें मारे गये। मरने वालों में सबसे ज्यादा संख्या 39 छात्रों की थी। इस फर्जी एनकाउण्टर मामले में 2014 में सेना के पाँच जवानों और दो अधिकारियों को आजीवन कारावास की सजा मिलने पर कश्मीर के पूर्व मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्लाह ने सोशल मीडिया में ट्वीट करते हुए लिखा कि “कश्मीर में कोई भी यकीन नहीं करता कि इस तरह के मामले में इंसाफ होगा। संस्थाओं में यकीन गायब है।”

‘आधी विधवा’

यह शब्द कश्मीर का एक प्रचलित शब्द बन गया है। ये वे औरते हैं जिनके पति सालों से गायब हैं। देया भट्टाचार्य ने अपनी एक शोध रिपोर्ट *द प्लाइट ऑफ कश्मीरी हाफ विडो* (कश्मीर की आधी विधवाओं की दुर्दशा) में ऐसी 55 महिलाओं की जिन्दगियों का दस्तावेजीकरण किया है जो आज भी रात-रात भर दरवाजे पर टकटकी बाँधे अपने पतियों के लौटने की राह देखती हैं।

कश्मीर में एक संस्था है जिसका नाम है एशोसिएशन ऑफ पेरेन्ट्स ऑफ डिसअपेर परसन (एपीडीपी) यानी गायब हुए लोगों के अभिभावकों का संघ। इस संस्था ने 2008 में जारी अपनी एक रिपोर्ट में पिछले 25 सालों में 8000 पुरुषों के गायब होने की बात कही है। सरकार का कहना है कि यह आँकड़ा बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। गायब हुए लोगों की असली संख्या 4000 से कम

ही है। यानी लोग गायब हैं, कम से कम इस बात को भारत सरकार कबूल करती है।

इंटरनेशनल पीपुल्स टर्मिनल ऑन ह्यूमन राइट एण्ड जस्टिस इन इंडिया एडमिनिस्ट्रेटेड कश्मीर (आईपीटीके) और एपीडीपी के सहयोग से 2009 में जारी एक रिपोर्ट *बैरिड एविडेन्स* में बंदीपुरा, बारामुला और कुपवाड़ा जिले के 55 गाँवों में 62 जगहों पर 2700 अनजानी, अचिन्हित सामूहिक कब्रों के होने की जानकारी दी थी जिनमें 2943 लाशें थीं। राज्य मानवाधिकार आयोग की *फैक्ट्स अण्डरग्राउण्ड* नामक एक अन्य रिपोर्ट में पाँच जिलों कुपवाड़ा, बारामुला, बन्दीपूरा, उत्तरी कश्मीर और जम्मू में 7000 अनजानी, अचिन्हित कब्रों के होने की बात कही गयी। ये वे कब्रे हैं जिनके बारे में किसी को नहीं पता कि ये किनकी हैं और एक-एक कब्र में एक साथ कई लाशें पायी गयीं। जैसे कुपवाड़ा में पायी गयी ऐसी ही एक कब्र में 11 लाशें साथ मिली थीं।

कश्मीर के नागरिक संगठनों ने इन कब्रों में भारी संख्या में उन लोगों के होने की सम्भावना जाहिर की थी जिनकी पत्नियाँ आज भी आधी विधवा की तरह जी रही हैं और इस खुशफहमी को ओढ़े रखना चाहती हैं कि कभी तो उनके पति घर वापस लौटेंगे।

नागरिक संगठनों ने इन लाशों के डीएनए परीक्षण की माँग उठायी थी, जिसे भारतीय सरकार ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि देश भर में मात्र 14 ऐसी प्रयोगशालाएँ हैं जिनमें डीएनए परीक्षण किया जा सकता है। ऐसे में व्यावहारिक रूप से यह जाँच नहीं की जा सकती। रिपोर्ट जारी होने के बाद यूरोपीय संसद ने इसके लिए 10 जुलाई 2008 को एक प्रस्ताव पारित कर तकनीकी सहायता देने की पेशकश की थी। लेकिन यह जाँच कभी नहीं हो पायी।

स्कूल वेबसाइट को दिये साक्षात्कार में कश्मीर के एक मानवाधिकार कार्यकर्ता खुर्रम परवेज कश्मीर में 1990 से अब तक लैंगिक और लैंगीय हिंसा के 7000 मामले बताते हैं। वे इसे सीधे-सीधे बलात्कार नहीं कहते क्योंकि लड़कों के साथ हुए बलात्कार को तकनीकी रूप से साबित करना बेहद मुश्किल है।

ह्यूमन राइट वॉच के विभाग एशिया वॉच और फिजिशियन फॉर ह्यूमन राइट ने मिलकर 1993 में अपनी एक रिपोर्ट जारी की थी जिसका शीर्षक था “द ह्यूमन राइट क्राइसिस इन कश्मीर : ए पैटर्न ऑफ इम्प्यूनिटी” 1990 के दशक में कश्मीर में पैदा हुई उग्रवादी हिंसा के कुछ ही वर्ष बाद जारी इस रिपोर्ट में पूरा एक अध्याय सेनाओं द्वारा की गयी हिंसा को समर्पित है। इसके शीर्षकों से ही कश्मीर के हालात का एक जायजा लिया जा सकता है। (देखें बॉक्स)

कश्मीरी जनता के आन्दोलन का नया दौर

कश्मीर आज एक नये दौर में पहुँच चुका है। 8 जुलाई 2016 को सेना ने हिजबुल मुजाहिद्दीन के कमाण्डर बुरहान वानी की हत्या की। बुरहान वानी को अन्तिम विदायी देने लाखों कश्मीरी सड़कों पर उतर आये। जगह-जगह विरोध प्रदर्शन होने लगे। सेना का बहिष्कार किया गया और पत्थरबाजी की गयी। सेना ने

निर्ममता पूर्वक पैलेट गन का इस्तेमाल किया जिसमें 80 लोग मारे गये और 10,000 से ज्यादा लोग गम्भीर रूप से घायल हो गये। मरने वालों और घायल होने वालों में छोटे बच्चों की अच्छी खासी संख्या थी। पैलेट गन का शिकार हुए कई लोगों, बच्चों को अपनी आँखें गवानी पड़ी साथ ही उन्हें और भी बुरे नतीजे भुगतने पड़े। इसके बावजूद भारी संख्या में बच्चे, कॉलेज के छात्र-छात्राएँ, नौजवान अपना जीवन दाँव पर लगाकर भारतीय सेना के विरोध में सड़कों पर डटे रहे।

पुलवामा के सरकारी डिग्री कॉलेज में सेना के एक मेजर के पहुँचने के बाद कश्मीर में अप्रैल महीने में प्रतिरोध की नयी लहर शुरू हुई। मेजर कॉलेज में पेंटिंग प्रतियोगिता का प्रस्ताव लेकर गये थे। वे माइन्स रोधी कैस्पिर गाड़ी में गये थे। इस तरह की गाड़ी का प्रयोग टकराव सम्भावित क्षेत्रों में किया जाता है। इससे छात्र गुस्से में आ गये। उन्होंने गाड़ी पर पत्थर फेंकने शुरू कर दिये। कॉलेज परिसर में घण्टे भर चली पुलिस गोलीबारी में कई छात्र घायल हो गये जिसने स्थिति को और भड़का दिया। गुस्सा पूरी घाटी में फैल गया। छात्र-छात्राएँ स्कूलों, कॉलेजों से निकलकर विरोध प्रदर्शन करने सड़कों पर उतर आये। कश्मीर के इतिहास में पहली बार लड़कियों को भी सुरक्षा बलों पर पत्थर फेंककर अपना गुस्सा जाहिर करते हुए देखा गया।

अफशाना आशिक उन तमाम लड़कियों में से एक हैं जो पत्थर फेंकने वालों में शामिल थी। पिछले दिनों सुरक्षा बलों पर पत्थर फेंकते हुए उनकी एक तस्वीर सोशल मीडिया पर काफी प्रचारित हुई। अफशाना एक फुटबॉल खिलाड़ी हैं। भारत की राष्ट्रीय टीम में खेलना चाहती हैं। राज्य सरकार ने उन्हें कश्मीर में लड़कियों को फुटबॉल सिखाने के लिए कोच नियुक्त किया था। लेकिन अब वे पत्थर फेंकने वाले नौजवानों के साथ खड़ी हैं। फ्रंटलाइन पत्रिका से बात करते हुए उन्होंने कहा कि “हाँ मैंने पुलिस पर पत्थर फेंके... एसपी हाई स्कूल के लड़के शान्तिपूर्वक प्रदर्शन कर रहे थे, और हम सभी ने देखा कि पुलिस ने बिना किसी पूर्व सूचना के आँसू गैस की गोलाबारी की। जब मैं 8 से 10 छात्राओं के साथ प्रताप पार्क के पास सिटी सेन्टर पहुँची तो मेरे पिता की उम्र के एक पुलिस अधिकारी ने हमें भद्दी गालियाँ दीं और उस इलाके से गुजर रही एक लड़की को थप्पड़ मारा।... मेरे पास कोई हथियार न होने के चलते मैंने इस दमनकारी पुलिस पर पत्थर फेंकने का निर्णय लिया।” जब उनसे पूछा गया कि अगर उन्हें हथियार मिल जाते तो क्या वे हथियार उठाती। अफशाना का कहना था कि वे नौजवानों को खेल खेलने के लिए प्रेरित करना चाहती हैं लेकिन मासूम बच्चों और नौजवानों की हत्याएँ नौजवानों को हथियार उठाने के लिए भड़का रही हैं। “पहले केवल लड़के ही भारतीय राज्य द्वारा कश्मीर में शुरू किये गये दमन के खिलाफ गुस्सा होते थे और हथियार उठाते थे। लेकिन अब लड़कियाँ भी इसमें शामिल होना चाहती हैं।”

सरकारी बलों द्वारा कश्मीर में किये गये कानून उल्लंघन

बिना न्याय के हत्या और बदले में हत्या
हिरासत में हुई अन्धाधुन्द हत्याएँ और मौत
मसरूफ सुलतान पर जानलेवा हमला
गौहर अमीन बहादुर और जावेद बकशिर की हत्या
सारबाला में हुई हत्याएँ
आशिक हुसैन मसूदी की हत्या
तेंगपोरा में हुई हत्याएँ
डाल दरवाजे की हत्याएँ
आबेगुजार की हत्याएँ
मोहम्मद याकूब मीर की हत्या
बदले में की गयी हत्या
लाल चौक में आगजनी
शिकारा में हुई हत्याएँ
अप्रैल 1993 में सोपोर में की गयी हत्याएँ
डॉ. फारुक अहमद आशाई की हत्या
सोपोर नरसंहार
सोपोर में 3 नागरिकों की हत्या
बाटेकोट नरसंहार
सफाकदल हत्याएँ
नसरुल्लाहपोरा का नरसंहार
ताजुद्दीन और इम्तियाजुद्दीन फारुकी की हत्या
जानलेवा सेना का अन्धाधुन्द प्रयोग
आशिक हुसैन की हत्या
प्रताड़ना
गुर्दा खराब होने की हद तक हुई प्रताड़ना के शिकार
प्रताड़ना के अन्य मामले
भारतीय सरकारी सेना द्वारा कश्मीर में किये गये बलात्कार
सजा से न डरने का एक ढाँचा
शोपिआन बलात्कार मामला
हरण बलात्कार मामला
गुरिहाखार में बलात्कार
नागरिकों पर अन्धाधुन्द प्रहार और हमले
पत्रकारों पर हमले
सरकारी सेना द्वारा किया गया स्वास्थ्य तटस्थता का उल्लंघन
स्वास्थ्य कर्मियों को घायल आदमियों को ले जाने से रोकना
सुरक्षा बल द्वारा घायलों को स्वास्थ्य सेवा देने की इजाजत न देना
अस्पतालों में छपा मारना
स्वास्थ्य कर्मियों की गिरफ्तारी, उन्हें परेशान करना और पीटना

कश्मीर की कुल आबादी में नौजवानों का प्रतिशत 65। ये वे छात्र और नौजवान हैं जो लम्बे समय से कश्मीर में जारी सैन्य ज्यादतियों के चश्मदीद रहे हैं। कश्मीर के मुद्दे पर तमाम राजनीतिक पार्टियों की नाकामयाबी को वे देख चुके हैं। भारतीय राज्य से उन्हें कोई उम्मीद नहीं रह गयी है।

कश्मीर में अब 1990 के दौर की उग्रवादी हिंसा नहीं दिखती, लेकिन उग्रवादियों को जनता अपना हितैशी मानने लगी है। मार्च महीने में बडगॉम जिले के चदूरा क्षेत्र में सेना ने एक उग्रवादी को घेर लिया। तुरन्त ही भारी संख्या में आम नागरिक वहाँ पहुँच गये और उग्रवादी के भाग निकलने में पूरी मदद की। सेना के साथ हुई मुठभेड़ में तीन नागरिकों ने अपनी जान दी। उग्रवादियों को सुरक्षा बलों की कैद से बचाने के लिए आम जनता का कूद पड़ना सामान्य बात हो गयी है। सोपियाँ जिले के डिप्यूटी जनरल ऑफ पुलिस एस. पी. पानी बताते हैं कि उग्रवाद कोई चुनौती नहीं बल्कि कानून और व्यवस्था का टूट जाना सबसे बड़ी चुनौती है जिसमें लोग शामिल हैं, और प्रतिरोध के लिए खड़े हैं। (फ्रंटलाइन, 26 मई, 2017)

भारतीय मीडिया कश्मीर के हालात के लिए बार-बार पाकिस्तान को कोसती है। पत्थर फेंकने वालों को भाड़े के लोग साबित करती है। लेकिन यह सच्चाई से आँख मूँदना है। पत्थर फेंकने वालों की दिल्ली की सरकारों से सबसे बड़ी शिकायत ही यही है कि दिल्ली दीवारों पर लिखे उनके नारों को नहीं देखती। अपना गुस्सा जाहिर करने के लिए नौजवानों को लगता है कि उनके पास चुनने को सिर्फ दो ही रास्ते हैं या तो बन्दूक उठायेँ या फिर पत्थर। श्रीनगर के नौहाट्टा इलाके के रहने वाले 27 साल के रऊफ अहमद कहते हैं कि हममें से जो सबसे श्रेष्ठ हैं वे बन्दूक उठाते हैं और मुझ जैसे कमजोर पत्थर फेंकते हैं।” बीए के विद्यार्थी 20 साल के अहमद वानी का कहना है कि “हम पत्थर फेंकना नहीं चाहते लेकिन हमारी मजबूरी यह है कि पलट कर हमला करने के अलावा हमारे पास कोई और विकल्प नहीं है।” सरकारी महिला कॉलेज की बीएससी प्रथम वर्ष की छात्रा मरियम मजीद मानती हैं कि पत्थर या बन्दूक उनकी समस्या का हल नहीं लेकिन “कोई क्रान्ति लाने के लिए एक विद्रोह जरूरी होता है। हम सभी को विद्रोही होना चाहिए।” (फ्रंटलाइन, स्टोन ऑफ फ्यूरी)

ये गवाहियाँ, ये बयान कश्मीरी नौजवानों के गुस्से और भारतीय राज्य के प्रति उनकी बढ़ती नफरत को दर्शाते हैं। तमाम राजनीतिक पार्टियों से उनका यकीन उठ चुका है। भारतीय राज्य का दिन ब दिन बढ़ता दमन उन्हें मुँह चिढ़ा रहा है। केन्द्र की भाजपा सरकार और राज्य में पीडीपी-भाजपा गठबंधन की सरकार ने कश्मीरी जनता के गुस्से को और ज्यादा बढ़ा दिया है। भाजपा की साम्प्रदायिक और अंधराष्ट्रवादी सोच जग जाहिर है। भाजपा के मातृ संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अखण्ड भारत का नक्शा अफगानिस्तान तक पहुँचता है जिसके शासन की बागडोर हिन्दू

शासक के ही हाथ होगी। फर्जी राष्ट्रवाद की सनक को हवा देने में सरकार और उसके लगुए-भगुए संगठनों ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। जनता के बरख्शा सेना और कश्मीर के बरख्शा शेष भारत को खड़ा करना भी इसी का हिस्सा बन चुका है।

पूर्व रॉ (रिसर्च एण्ड एनलिटिकल विंग) प्रमुख और अटलबिहारी वाजपेयी सरकार के कश्मीर सलाहकार ए एस दौलत का कहना है कि कश्मीर पर आगे बढ़ने का केवल एक ही रास्ता है – बातचीत, बातचीत और बातचीत चलाते रहना।” लेकिन नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली नयी सरकार के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोवाल ज्यादा से ज्यादा सैन्य शक्ति पर यकीन करते हैं। उनका कहना है कि “सत्ता के खेल में अन्तिम न्याय उसी के पक्ष में होता है जो ज्यादा ताकतवर होता है।” मोदी सरकार इसी योजना को लागू कर रही है और कश्मीर दिब-ब-दिन भारत से विमुख होता जा रहा है।

अंग्रेजी पत्रिका आउटलुक के नवम्बर 2016 अंक में *हाऊ नॉट टू बी इण्डिया* शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था। यह लेख दो लेखकों के बीच सम्वाद था। एक कश्मीरी मुस्लिम और दूसरा किश्तवाड़ी हिन्दू। दोनों लेखकों के नाम का शुरूआती अक्षर ‘अ’ है— अमित कुमार और आरिफ अयाज पार्रैय। पत्रिका ने बेहद खूबसूरती के साथ सम्वाद के दौरान दोनों लेखकों की पहचान को गोपनीय रखा और दोनों को समान रूप से ‘अ’ नाम से प्रस्तुत किया। इसे पाठकों के विवेक पर छोड़ दिया कि वे खुद तय करें कि कौन सा सम्वाद ‘हिन्दू’ का है और कौन सा ‘मुस्लिम’ का। लेख के अन्त में किसी ‘अ’ ने भारतीय राज्य के बारे में कश्मीरी जनता की सोच को दर्शाते हुए यह कहानी सुनायी :

अ : “पिछली गर्मियों में हमारे एक दोस्त का 10 साल का चचेरा भाई जो बाज मौकों पर पत्थर फेंकने वालों में शामिल रहा करता था और मुझसे हिजबुल मुजाहिद्दीन के मारे गये उग्रवादी सुभाष कुमार शान का एक पोस्टर लाने को कहा करता, उसने मुझसे एक बहुत कठिन सवाल पूछ लिया। वह अपने से आधी लम्बाई के एक 7 साल के बच्चे का कचूमर निकालने की हद तक पीटने ही वाला था और जब मैंने उसे ऐसा करने से रोका तो वह जानना चाहता था कि उसे ऐसा क्यों नहीं करना चाहिए। इसका जवाब ढूँढने के लिए मैं नैतिकता के सम्पूर्ण इतिहास से गुजरा। अपने सबसे अच्छे और बच्चों से दोस्ती गाँठने के अन्दाज में मैंने उसे धम्म की शिक्षा दी, धार्मिक कारण बताये, ईसाई सदाचार के बारे में उसे बताया, सुन्नाह और हदीत से उसके सामने मिसालें पेश की और सुकरात, कांट और नीत्से तक का सारा दर्शन उसके सामने उद्वेल दिया। लेकिन मैं उसके चेहरे से समझ सकता था कि वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। आखिरकार मुझे यही सूझा। मैंने उससे सीधे-सीधे कहा “क्या तुम भारत बनना चाहते हो?”

वह उठा और उस दूसरे बच्चे को जो उस समय भी सुबक-सुबक कर रो रहा था, गले से लगा लिया।”

मीडिया : आजादी और जवाबदेही

-आनन्द स्वरूप वर्मा

मीडिया की आजादी और इसकी जवाबदेही विषय पर आज जब भी कोई गम्भीरता से विचार करता है तो एक बड़ी दर्दनाक तस्वीर सामने आती है। ऐसा लगता है जैसे समूचा मीडिया आज एक अंधकार के युग में प्रवेश कर गया है। प्रिंट मीडिया हो अथवा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों ने देश की जनता को राष्ट्रभक्ति का पाठ पढ़ाने की जिम्मेदारी सँभाल ली है और इस प्रक्रिया में उसके लिए हर वह व्यक्ति या संगठन देश का दुश्मन है जो साम्प्रदायिकता, अंधराष्ट्रवाद, असहिष्णुता और राजनेताओं की गुंडागर्दी का प्रतिरोध करता है, जो भीड़ के न्याय का विरोधी है और जो तर्कशीलता में यकीन करता है। इस मामले में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा उन्हीं ताकतों को बढ़ावा दे रहा है जिन्होंने लगातार जनतंत्र के दायरे को संकुचित किया है। फासीवादी ताकतों के साथ खुद को घनिष्ठ रूप से जोड़ते हुए मीडिया एक शर्मनाक भूमिका निभा रहा है और भारत के इतिहास में एक ऐसा रक्तरंजित पन्ना जोड़ने की तैयारी में लगा है जिससे निजात पाने में आने वाली पीढ़ी को अनेक लम्बे और दर्दनाक रास्तों से गुजरना होगा। क्या इस तरीके से उन लोगों की जुबान पर हमेशा के लिए ताला लगाया जा सकेगा जो कश्मीर जैसे संवेदनशील मुद्दे पर सरकार से थोड़ा भी अलग राय रखते हैं? क्या मुसलमानों ही नहीं बल्कि देश और देश के तमाम उत्पीड़ित जनों से प्यार करने वाले उन हिन्दुओं के अंदर भी यह खौफनाक सन्देश पहुँचाने की कोशिश नहीं की जा रही है कि अगर तुमने किसी

मुद्दे पर 'हिन्दुत्ववादियों' का विरोध किया तो तुम्हें थाने या अदालत के दरवाजे तक पहुँचने से पहले ही लम्पटों और गुंडों की भीड़ के हवाले कर दिया जाएगा? क्या सवालियों से जूझते दलित और गैर दलित नौजवानों के दिलों में दहशत पैदा की जा सकेगी जिन्हें बखूबी पता है कि भारत में फासीवाद मनुस्मृति को बगल में दबाये ब्राह्मणवाद के रथ पर सवार होकर संविधान को रौंदते हुए आने की तैयारी में लगा है? हमारे इस लोकतंत्र को आतताइयों का तंत्र बनाने के लिए जो ब्यूह रचना चल रही है उसमें यह हमारे लिए और उन सभी लोगों के लिए, जो इस देश में संविधान और जनतंत्र को बचाये रखना चाहते हैं और जो विभिन्न धर्मों और समुदायों की एकजुटता में विश्वास रखते हैं, चिंता की बात है।

आज मीडिया विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ाने, पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्धों को जटिल बनाने, कॉरपोरेट घरानों की लूट को आसान बनाने और पूरे देश में एक साम्प्रदायिक माहौल तैयार करने में जबर्दस्त भूमिका निभा रहा है। आज की तारीख में जनतांत्रिक दायरा कितना सिकुड़ गया है इसे समझने के लिए 'इंडिया टुडे कॉन्क्लेव' में भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के साथ पत्रकार राहुल कँवल के उस संवाद की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहूँगा जिसमें एक सवाल के जवाब में अमित शाह ने कहा, "अफजल गुरु की फाँसी के दिन इकट्ठा होना इटसेल्फ देशद्रोह है। इसमें नारे का सवाल ही नहीं कि किसने लगाये किसने नहीं लगाये..."। 2004 में अफजल के ही सह आरोपी एसएआर गिलानी के

बचाव के लिए जो ऑल इंडिया कमेटी बनी थी उसके अध्यक्ष प्रसिद्ध समाज विज्ञानी रजनी कोठारी थे और अन्य सदस्य थे सुरेंद्र मोहन, अरुणा राय, संदीप पांडेय, अरुंधति राय, प्रभाष जोशी, संजय काक, नंदिता हक्सर, सर्दा हमीद आदि। क्या ये सभी देशद्रोही माने जायेंगे? राहुल कँवल के अन्दर यह पूछने का साहस नहीं था।

मीडिया आज क्यों इस स्थिति में पहुँच गया है, इस पर हमें गम्भीरता के साथ विचार करने की जरूरत है। इस सन्दर्भ में मैं पिछले चार-पाँच दशकों के दौरान मीडिया के विकास और इसके अधःपतन का संक्षेप में जिक्र करना चाहूँगा।

आप सब लोगों को पता है कि जून 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने जब पूरे देश में आपात स्थिति की घोषणा की और अखबारों पर सेंसरशिप लगायी तो यह आजादी के बाद की पहली घटना थी। 1977 में इमरजेंसी के समाप्त होते ही और सेंसरशिप हटते ही अखबारी दुनिया में ऐसी हलचल मची जैसे किसी स्प्रिंग को जबर्दस्ती नीचे तक दबाकर अचानक छोड़ दिया गया हो। इसके बाद अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं और पाठकों की संख्या में न केवल अभूतपूर्व वृद्धि हुई बल्कि राजनीतिक विषयों में भी लोगों की दिलचस्पी बढ़ी। अनेक ऐसी पत्रिकाएँ, जो रहस्य, रोमांच और अपराध कथाओं से भरी होती थीं उन्होंने भी अपना तेवर और कलेवर बदल दिया और राजनीतिक खबरें छापने लगीं। इसी के साथ पत्रकारिता में खोजी पत्रकारिता या इन्वेस्टिगेटिव जर्नलिज्म की शुरुआत हुई। इस खोजी पत्रकारिता ने

लोगों का ध्यान तेजी से आकृष्ट किया और कुछ अच्छी स्टोरी भी पाठकों को पढ़ने को मिली। लेकिन इसका एक घातक पहलू इस रूप में सामने आया कि अखबारों से गम्भीर और विश्लेषणात्मक सामग्री का सफाया होता गया। पाठकों की रुचि बदलती गयी और फिर उसे मसालेदार सामग्री की तलाश होने लगी। धीरे-धीरे खोजी पत्रकारिता ने राजनीतिक विषयों पर सनसनीखेज सामग्री देनी शुरू की और इसी को उपलब्धि मान लिया गया।

इस दौरान एक और महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिली कि अखबारों की बढ़ती पाठक संख्या और जनमत तैयार करने की इनकी अदभुत क्षमता ने राजनेताओं का ध्यान पहली बार हिन्दी सहित अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के अखबारों और पत्रकारों की ओर आकृष्ट किया। नतीजतन इस 'चौथे स्तम्भ' को ग्लैमर मिल गया। इस ग्लैमर से आकर्षित होकर बड़ी संख्या में ऐसे लोग पत्रकारिता के क्षेत्र में आये जिनके दिमाग में न तो कोई मिशन था और न कोई उद्देश्य। इस स्थिति ने उन पत्रकारों के अन्दर बड़ी निराशा पैदा की जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी भूमिका ढूँढ रहे थे और जो अपनी कलम के जरिए सामाजिक न्याय की लड़ाई में योगदान करना चाहते थे। वैसे देखा जाय तो 1977 से 1980 का दौर पत्रकारिता के लिए बहुत महत्वपूर्ण था।

1980 में जनता पार्टी की सरकार गिर गयी और श्रीमती गांधी दोबारा सत्ता में आ गयीं। इस बार वह एक नये तेवर के साथ सत्तासीन हुई थीं। जनता पार्टी में पुराने भारतीय जनसंघ के शामिल हो जाने से उन्होंने महसूस किया था कि देश का हिन्दू वोट कांग्रेस के खिलाफ चला गया था और यह उनकी चिंता का एक कारण बना। अब उन्होंने भी साम्प्रदायिकता को हवा देनी शुरू की और इस सिलसिले में नवम्बर 1983 में अजमेर में आर्यसमाज के एक सम्मेलन का उनके द्वारा उदघाटन किया जाना बहुत महत्वपूर्ण है। इसके

साथ ही उन्होंने अपने इर्द-गिर्द अवसरवादी, लम्पट और अपराधी तत्वों को भी अच्छी खासी संख्या में बसा लिया। 1980 के दशक की राजनीति को याद करें तो पाएंगे कि इसी दौर में तस्करों, माफिया सरगनाओं और आपराधिक तत्वों ने बड़ी तेजी के साथ कांग्रेस तथा अन्य पार्टियों में प्रवेश किया। इन सब चीजों का असर पत्रकारिता पर भी पड़ा। अब अखबारों में कुख्यात अपराधियों के जीवनवृत्त छपने लगे और पत्रिकाओं के मुखपृष्ठों पर तस्करों और माफिया गिरोह के सरदारों की तस्वीरों को स्थान मिलने लगा और उनके लम्बे-लम्बे इंटरव्यू प्रकाशित होने लगे। दिवंगत पत्रकार सुरेन्द्र प्रताप सिंह के सम्पादन में 'रविवार' का पहला अंक 1977 में प्रकाशित हुआ था और इसकी आवरण कथा के रूप में प्रसिद्ध लेखक फणीश्वर नाथ रेणु की तस्वीर छपी थी। लेकिन 1984 आते-आते हालात इतने बदतर हो गये कि तस्कर के रूप में कुख्यात हाजी मस्तान पर इसी पत्रिका में आवरण कथा प्रकाशित हुई और उस तस्कर की फोटो कवर पर छपी। यही वह दौर था जब खास तौर पर हिन्दी पत्रकारिता का अधःपतन शुरू हुआ जो आज तक जारी है। आज स्थिति यह है कि जनपक्षीय पत्रकारिता पूरी तरह हाशिए पर चली गयी है और जनपक्षीय पत्रकार अपने को बेहद असहाय महसूस करने लगे हैं।

1980 के दशक की पत्रकारिता कई अर्थों में इसलिए याद की जाएगी क्योंकि समूचा दशक उल्लेखनीय घटनाओं से भरा था। पंजाब में ब्लू स्टार ऑपरेशन से लेकर शाह बानो केस और फिर बाबरी मस्जिद का ताला खोले जाने, आडवाणी की रथयात्रा और अयोध्या में बार-बार होने वाली कारसेवा ने न केवल समूचे सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया बल्कि पत्रकारिता में भी एक नए तरह का ध्रुवीकरण शुरू हो गया। ब्लू स्टार ऑपरेशन के समय पहली बार यह महसूस हुआ कि हिन्दी पत्रकारिता 'हिन्दू पत्रकारिता' हो गयी है। बिना किसी अपवाद के हिन्दी के सभी अखबारों ने

पंजाब की घटनाओं पर वही रवैया अख्तियार किया जो राजनीतिक समस्या के सैनिक समाधान में यकीन करती है। उस समय श्रीमती गांधी की नीतियों का आँख मूँदकर समर्थन करने की जिम्मेदारी लगभग सारे अखबारों ने संभाल ली। अयोध्या में कार सेवा तक यह प्रवृत्ति इतना गम्भीर रूप ले चुकी थी कि इसके खिलाफ प्रेस परिषद को भी कदम उठाना पड़ा। 1987 में राजस्थान के दिवराला में रूपकुंवर नामक एक महिला सती हुई थी और उस पर 'जनसत्ता' में जो सम्पादकीय प्रकाशित हुआ था उसके विरोध में ढेर सारे लेखकों पत्रकारों ने जनसत्ता का बहिष्कार किया था। आज हम जिन प्रवृत्तियों को मीडिया में एक घातक रूप लेते हुए देख रहे हैं उनके बीज 1980 के दशक में पड़ चुके थे लेकिन उन बीजों के विकसित होने के लिए जिस आबोहवा की जरूरत थी उसका अभाव था। नरेन्द्र मोदी की मौजूदा सरकार ने वह आबोहवा मुहैया करा दी और वे बीज जो अंकुरित होने के लिए बेचैन थे अचानक प्रस्फुटित हो गये।

उन दिनों हिन्दी में 'जनसत्ता' को बहुत अच्छा अखबार माना जाता था और इसके पाठकों की संख्या भी अच्छी थी। पत्रकारों की बहुत शानदार टीम होने के बाजवूद सम्पादक सहित सम्पादकीय विभाग के प्रमुख लोगों के कट्टरपंथी विचार अखबार के पन्नों पर तमाम अच्छी रपटों के बीच पड़े रहते थे। खुद सम्पादक प्रभाष जोशी भाषा के मामले में अदभुत थे लेकिन वैचारिक गड़बड़ी की वजह से उनकी बातों का जो असर होता था वह उन्हीं बीजों के लिए खाद-पानी का काम करता था जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। अपने विचारों को किसी न किसी रूप में प्रकट करने से वह बाज नहीं आते थे। अगर क्रिकेट पर उन्होंने कोई लेख लिखा तो उसमें भी उनके वे विचार जगह पा ही लेते थे। मिसाल के तौर पर 12 फरवरी 1987 के उनके लेख का यह अंश देखें जो उन्होंने भारत-पाक क्रिकेट मैच के बाद लिखा था-- "भारतीयों को पाकिस्तान से हारना जितना बुरा लगता

है उतना किसी देश की टीम से किसी खेल में हारना नहीं। और पाकिस्तान तो मानता है कि मांस, मच्छी, अंडे आदि खाने वाले जो मुसलमान हमलावर खैबर के दर्रे से आये इसीलिए तो जीते और राज करते रहे कि दाल-चावल खाने वाले हिन्दुओं से ज्यादा ताकतवर थे और इसलिए उन पर राज करने के लिए ही बने थे... भारत के विरोध में खड़े होकर मूँछ पर ताव देते रहना पाकिस्तान के अस्तित्व के लिए जरूरी है। जरूरी यह भी है कि वह अपने को दाल-भात और इडली-डोसा खाने वाले हिन्दुस्तानियों से ज्यादा ताकतवर माने। आप देखिए इमरान खान तेज गोलंदाजी करते हुए कैसी पठानी दिखाते हैं और जहीर अब्बास और जावेद मियाँदाद के सामने कोई भी भारतीय गोलंदाज पाकिस्तान में टिक क्यों नहीं पाता था।”

अपने इसी लेख में उन्होंने आगे लिखा- “इस बार भारत में भारत को हराने के पक्के इरादे से इमरान खान घोड़े पर चढ़कर आये थे और अपनी गोलंदाजी को बड़ी तोप बता रहे थे। पहले टेस्ट में मद्रास में श्रीकांत ने खुद इमरान खान और उनके सबसे घातक गोलंदाज कादिर की गेंदों में भुस भर दिया। श्रीकांत ने इमरान की ऐसी बेरहमी से धुनाई की है कि पहले किसी बल्लेबाज ने नहीं की थी। इडली डोसे ने तंदूरी मुर्गे और गोश्त दो प्याजा में मसाले की जगह भूसा भर दिया।” यह तो है खेल प्रेम। अगर लेखक का बस चले तो वह इन खिलाड़ियों का गला ही दबोच दे।

इस मामले में अंग्रेजी के अखबार भी पीछे नहीं रहे। बांग्लादेश में भारत और पाकिस्तान के बीच खेले गये मैच पर ‘टाइम्स ऑफ इंडिया’ (19 जनवरी 1998) के खेल संवाददाता की रिपोर्ट का यह अंश देखें-- “ढाका के जिस स्टेडियम में भारतीय टीम ने पाकिस्तान के 314 रनों के मुकाबले धुँआधार बल्लेबाजी से जीत हासिल की, वह सुहरावर्दी उद्यान से महज दो किलोमीटर की दूरी पर है जहाँ पाकिस्तानी सेना के मेजर जनरल नियाजी ने 1971 में जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा

के सामने आत्मसमर्पण किया था।”

पिछले दो दशकों के दौरान मीडिया संस्थानों में सम्पादक के पद का लगभग लोप हो गया और सम्पादकीय विभाग के अन्य पदों पर काम करने वालों की हालत दिनोंदिन खराब होती गयी। इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए जितने भी वेतन आयोग बने उनकी सिफारिशों पर मालिकों ने कभी अमल करने की जरूरत नहीं समझी। जब से अखबारों में छोटे-छोटे पदों पर भी ठेके पर नियुक्ति का प्रचलन बढ़ा स्थितियाँ बदतर होती गयीं। पत्रकारों की ट्रेड यूनियनों जो किसी जमाने में बहुत मजबूत स्थिति में थीं अब नाममात्र के लिए रह गयी हैं। पत्रकार संगठनों के शीर्ष पर बैठे लोग केवल सत्ता के साथ सम्बन्ध बनाने में लगे रहे। देश के सबसे पुराने पत्रकार संगठन ‘इंडियन फेडरेशन ऑफ वर्किंग जर्नलिस्ट’ की हालत यह है कि पिछले तीन-चार दशकों से एक ही व्यक्ति के विक्रम राव उसके अध्यक्ष पद पर है। यहाँ हर तीन वर्ष पर चुनाव होते हैं लेकिन हर बार यही व्यक्ति निर्विरोध चुन लिया जाता है। पत्रकार संगठनों के सम्मेलन बस मौज-मस्ती के लिए आयोजित होते हैं। इन सम्मेलनों में न तो पत्रकारों के संघर्ष को आगे ले जाने की कोई चर्चा होती है और न किसी गम्भीर सामाजिक-राजनीतिक विषय पर विचार-विमर्श किया जाता है। मेरे पास एक पत्रकार संगठन के सम्मेलन का निमंत्रण पत्र पड़ा है। उसके दो दिनों के कार्यक्रम को मैं सुनाऊँगा तो आप हैरान रह जायेंगे। यह निमंत्रण पत्र ‘पत्रकार समन्वय समिति’ द्वारा 12-13 दिसम्बर 1987 को फैजाबाद में आयोजित पूर्वांचल पत्रकार सम्मेलन का है। इसमें आमंत्रित अतिथियों में कुलदीप नैयर और सुरेंद्र प्रताप सिंह का नाम छपा है। निमंत्रण पत्र के साथ दोनों दिनों के कार्यक्रम का ब्यौरा है जो इस प्रकार है--

12 दिसम्बर 1987--प्रातः 10-12 तक पंजीकरण। फिर मध्याह्न भोज- श्री ओम प्रकाश मदान, सोना बिस्कुट मैन्स्यु. कं, फैजाबाद के सौजन्य से; उद्घाटन- 1

बजे दोपहर, केन्द्रीय पेट्रोलियम गैस एवं राज्य मंत्री माननीय ब्रह्मदत्त द्वारा, अपरान्ह चाय- 4 बजे, जिला प्रशासन फैजाबाद के सौजन्य से। द्वितीय सत्र प्रारम्भ- 4।30 बजे; हाई टी- 7:30 से 8:30 तक; रात्रि भोज- 8:30 से 10:30 तक बंसल प्रतिष्ठान फैजाबाद के सौजन्य से।

13 दिसम्बर 1987 बेट टी- 7-8 बजे तक; नाश्ता, 9-10 बजे तक, गल्ला व्यापार मंडल फैजाबाद के सौजन्य से; समापन सत्र-10:30 बजे; मध्याह्न भोज- दोपहर 2:00 बजे श्री सीताराम निषाद राज्य मंत्री मत्स्य सिंचाई, बाढ़ उ.प्र. शासन के सौजन्य से। कार्यक्रम के अंत में एक फुटनोट है- ‘कृपया पंजीकरण रसीद दिखाकर गिफ्ट पैक सम्मेलन कार्यालय से ले लें।’

इस पत्रकार सम्मेलन के दो दिन के कार्यक्रम को देखकर आप क्या कहेंगे--दोनों दिन केवल खाने पीने का कार्यक्रम और वह भी मंत्रियों और व्यापारियों के सौजन्य से। न तो किसी राष्ट्रीय मसले पर बातचीत और न अपने पेशे से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार विमर्श। यही स्थिति कम्बोवेश हर पत्रकार संगठन की है। ये संगठन अपने आयोजनों के लिए सरकार से कुछ लाख रुपये ले लेते हैं और इसी तरह के कार्यक्रम करते हैं। पत्रकार संगठनों की जब ऐसी स्थिति हो तो उनसे क्या उम्मीद की जा सकती है।

1990 के दशक के साथ ही भूमंडलीकरण का दौर शुरू हो गया। ग्लोबलाइजेशन का एक ‘बिल्ट-इन मेकेनिज्म’ है--जनआन्दोलन की खबरों को ब्लैक आउट करना। इसके पीछे दलील यह है कि अगर जनआन्दोलन की खबरें ज्यादा प्रकाशित होंगी तो निवेश का वातावरण खराब होगा। बाजार आधारित अर्थव्यवस्था में निवेश बहुत मायने रखता है और इसमें जनआकांक्षाओं की भरपूर अनदेखी की जाती है जो आज भारत में हो रहा है। इसके लिए राज्य की तरफ से तरह-तरह के बहाने ढूँढे जाते हैं। तीसरी दुनिया के देशों की समूची अर्थनीति और राजनीति विश्वबैंक तथा

अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा संचालित होने लगी। 1990 के दशक में ही नोबल पुरस्कार विजेता प्रमुख अर्थशास्त्री जोसेफ स्तिगलीज का एक दस्तावेज विश्व बैंक की ओर से प्रकाशित हुआ। उस समय स्तिगलीज विश्व बैंक के उपाध्यक्ष थे। उस दस्तावेज का शीर्षक था--'री डिफाइनिंग दि रोल ऑफ स्टेट' यानी राज्य की भूमिका को पुनर्परिभाषित करना। उन दिनों स्तिगलीज भूमंडलीकरण की नीतियों के समर्थक थे हालाँकि बाद के दिनों में वे इसके घोर विरोधी हो गये और विश्व बैंक की नीतियों के खिलाफ उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इस दस्तावेज में विभिन्न देशों को सलाह दी गयी थी कि वे सभी जनकल्याणकारी काम निजी कम्पनियों को सौंप दें और राज्य एक सहजकर्ता (फेसीलिटेटर) की भूमिका निभाये। कहने का तात्पर्य यह कि शिक्षा, पेयजल, स्वास्थ्य, परिवहन आदि का निजीकरण कर दिया जाय और उन्हें अपने ढंग से काम करने दिया जाय। देश का जो कार्यकारी प्रधान हो यानी प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति, वह अपनी एक कमेटी बनाकर इस निजीकरण की निगरानी करे। इस दस्तावेज को तीसरी दुनिया के देशों ने बाइबिल की तरह स्वीकार किया। इसी के नतीजे के तौर पर 1998 में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 'प्राइम मिनिस्टर्स काउंसिल ऑन ट्रेड एण्ड इंडस्ट्री' का गठन किया जिसमें देश के प्रमुख उद्योगपतियों को शामिल किया गया। ये थे--रतन टाटा, मुकेश अम्बानी, आर पी गोयनका, पी. के. मित्तल, कुमार मंगलम बिड़ला, नुस्ली वाडिया आदि। इन लोगों को विभिन्न क्षेत्रों की जिम्मेदारी सौंपी गयी। प्रधानमंत्री कार्यालय से विभिन्न मंत्रालयों को इस आशय का पत्र भेज दिया गया कि इनके नेतृत्व में बनी समितियाँ सम्बद्ध मंत्रालय की सर्वोच्च निकाय होंगी और इन्हें सारी जरूरी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाएँ। इस घटना की खबर अखबारों में नहीं छपी। अंग्रेजी अखबार 'दि हिन्दू' में एक सिंगिल कॉलम की खबर

दिखायी दी लेकिन प्रधानमंत्री कार्यालय की वेबसाइट पर इसकी जानकारी विस्तार से उपलब्ध थी। उन दिनों सोशल मीडिया भी नहीं था लिहाजा यह खबर व्यापक प्रचार नहीं पा सकी तो भी कुछ उत्साही पत्रकारों ने इस बात पर चिंता जाहिर की कि अगर शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे महत्वपूर्ण मामलों की देखरेख अम्बानी और टाटा करेंगे तो जनता के लिए ये सुविधाएँ कितनी महँगी साबित हो सकती हैं। धीरे धीरे विरोध के स्वर मुखर होते गये और तब पूरी योजना को कुछ समय के लिए ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

अप्रैल 2000 में शिक्षा में सुधार पर बनी समिति के संयोजक मुकेश अम्बानी और समिति के एक और सदस्य कुमारमंगलम बिड़ला ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी जिसका शीर्षक था--'ए पॉलिसी फ्रेमवर्क फॉर रिफार्म्स इन एजुकेशन' इसमें कहा गया था कि उच्च शिक्षा को दी जा रही सब्सिडी में सरकार को कटौती करनी चाहिए और इसकी भरपाई फीस बढ़ाकर की जा सकती है। इसमें यह भी कहा गया था कि एक ऐसा निजी विश्वविद्यालय होना चाहिए जो बाजार की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम तैयार करे। यह भी कहा गया था कि विश्वविद्यालय परिसरों और शिक्षण संस्थाओं में किसी भी तरह की राजनीतिक गतिविधि पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। विश्वविद्यालयों में यूनियनबाजी को रोकने के उपाय किये जाने चाहिए।

यहाँ से कॉरपोरेट घरानों के लिए, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सरकार से भी बड़ी भूमिका निर्धारित करने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह अबाध गति से चलता रहा और इसने धीरे धीरे मीडिया पर भी अपना शिकंजा कस लिया। पिछले वर्ष इसी हॉल में पत्रकार पी साईनाथ ने कहा था कि 'अगर हम लोग पाँच साल और पत्रकारिता में टिक गये तो यकीन मानिये हम सबका मालिक मुकेश अम्बानी होगा।' आज लगभग सारे चैनल मुकेश अम्बानी के पास हैं। अभी इसी वर्ष अम्बानी द्वारा

हिन्दुस्तान टाइम्स को भी पाँच हजार करोड़ रुपये में खरीदने की खबर आ चुकी है। जो चैनल अम्बानी के पास नहीं हैं उन पर दूसरे कॉरपोरेट घरानों का कब्जा है। इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली के सम्पादक परंजय गुहा ठकुरता ने अपने एक लेख में बताया है कि किस तरह भारत के सबसे बड़े कॉरपोरेट घराने के मालिक मुकेश अम्बानी और उनके रिलायंस इंडस्ट्रीज ने देश के ढेर सारे चैनलों पर अपना कब्जा कर रखा है। उनके इस खोजपूर्ण लेख के बारे में मैं इतना ही कहूँगा कि मीडिया पर कॉरपोरेट घरानों का कब्जा कितना मजबूत हो चुका है इसे जानने के लिए हर मीडियाकर्मी को यह लेख पढ़ना चाहिए। प्रिंट मीडिया हो अथवा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आज इनमें से कोई ऐसा नहीं है जो कॉरपोरेट घरानों से अलग हो और जिसके सरोकार आम जनता से जुड़े हों। ऐसी स्थिति में मीडिया से यह उम्मीद करना कि वह जनता के हित की बात करेगा बिलकुल बेमानी है।

प्रायोजित खबरों की एक अलग ही कहानी है। प्रायः आपको ऐसी खबरें 'विश्वस्त सूत्रों' के हवाले से दी जाती हैं। पोकरण परमाणु परीक्षण के एक साल पूरा होने पर समाचार एजेन्सी 'वार्ता' ने एक रिपोर्ट प्रसारित की। इस रिपोर्ट के अनुसार--'परमाणु विस्फोट के एक साल बाद पोकरण और खेतोलाई गाँव अकाल की छाया से निकल आया है। परमाणु परीक्षण के बाद यहाँ रिकॉर्ड बारिश हो रही है। विस्फोटों के बाद पोकरण से जैसलमेर तक भू-जल के अथाह भंडार ही नहीं मिले, बल्कि मीठा जल मिल जाने से लगभग 100 किलोमीटर के क्षेत्र में बंजर भूमि हरी-भरी हो गयी है।' इस रिपोर्ट में परीक्षण के बाद इस इलाके की खुशहाली के बारे में कुछ 'सूत्रों' के हवाले से बहुत सारी जानकारी दी गयी है। ये 'सूत्र' कौन से हैं, यह नहीं बताया गया है। इसमें किसी संवाददाता का नाम नहीं है लेकिन जिसने भी यह रिपोर्ट तैयार की है उसे गाँववालों ने बताया कि इस विस्फोट से 'जहाँ देश सामरिक दृष्टि से मजबूत हुआ

है वहीं पोकरण का नाम एक बार फिर ऊँचा हो गया है।

उसी दिन यानी 11 मई 1999 को देश के लगभग सभी अखबारों में अलग-अलग संवाददाताओं की रिपोर्टें एक अलग ही तस्वीर प्रस्तुत करती थीं। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने लिखा कि 'विस्फोट के बाद से ही लोगों की आँखों में काफी तकलीफ है, नाक से खून बह रहा है, कुछ को चमड़ी के रोग हो गये हैं और कड़ियों ने गुर्दे और दिल की बीमारी की शिकायत की। विस्फोट का सबसे ज्यादा असर यहाँ की गायों पर पड़ा। कई गायों के थन में से दूध की बजाय खून की बूँदें निकलीं और कुछ तो अंधी भी हो गयीं।' 'स्टेट्समैन' की एक रिपोर्ट ने बताया कि 'खेतोलाई गाँव के 700 लोगों के लिए यह एक ऐसा अनुभव रहा है जिसकी यंत्रणा वे पूरे साल झेलते रहे। उनके मकानों में दरारें पड़ गयीं। पोकरण-1 के विस्फोट के बाद कैंसर, जिगर, गुर्दे तथा दिल की बीमारी से 12 लोग मरे थे। वे भयभीत हैं कि इस बार अभी कितने लोगों पर रेडियोधर्मिता का असर पड़ा होगा।' 'इंडियन एक्सप्रेस' ने लिखा कि 'अकेले अप्रैल माह में चार लोगों की कैंसर से मौतें हुई हैं और कई लोग कैंसर से पीड़ित हैं।'

कारगिल युद्ध के समय इस तरह की खबरों की भरमार दिखाई देती थी। 3 जून 1999 को चंडीगढ़ से प्रकाशित 'दैनिक ट्रिब्यून' ने प्रथम पृष्ठ पर एक खबर दी जिसका शीर्षक था 'घुसपैठियों पर नापाम बमों से हमले'। यह समाचार किसी और अखबार में दिखाई नहीं दिया। 'दैनिक ट्रिब्यून' ने इस खबर के स्रोत का जिक्र नहीं किया था हालाँकि यह महत्वपूर्ण खबर थी और इसके साथ यह जानकारी दी जानी चाहिए थी कि यह खबर कहां से मिली। अगले दिन 4 जून को 'जनसत्ता' ने भारतीय वायुसेना के हवाले से बताया कि यह खबर गलत है। इसी प्रकार मुम्बई से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'फ्री प्रेस जर्नल' ने 14 जून को प्रमुखता के साथ एक खबर प्रकाशित की--'गौरी और शाहीन को नियंत्रण रेखा

पर तैनात कर दिया गया है।' इस खबर का भी कोई स्रोत नहीं दिया गया था। फिर 25 जून को 'राष्ट्रीय सहारा' ने सुर्खियों में छापा--'गुलाम कश्मीर और पंजाब की सीमा पर पाक के परमाणु हथियार तैनात'। इस खबर का स्रोत क्या है इसकी भी कोई जानकारी नहीं दी गयी।

कारगिल के मामले में मीडिया ने पूरे देश में जिस तरह का युद्धोन्माद फैलाया वह अभूतपूर्व है। इस काम में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और प्रिंट मीडिया दोनों में होड़ लग गयी थी कि कौन कितना 'देशभक्त' है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया निश्चय ही बाजी मार ले गया क्योंकि उसे पहली बार युद्ध के मोर्चे को जीवन्त रूप में लोगों के ड्राइंग रूम तक पहुँचाने का अवसर मिला था। यहाँ यह गौर करना काफी दिलचस्प होगा कि उस वर्ष 12 जून तक, जबतक विश्व कप क्रिकेट प्रतियोगिता से भारत बाहर नहीं हो गया, मीडिया की सारी देशभक्ति क्रिकेट पर न्यौछावर हो रही थी। यहाँ तक कि 9 जून को पाकिस्तान के मुक़ाबले भारतीय क्रिकेट टीम की जीत के समाचार को लगभग सारे अखबारों में पहला स्थान मिला जबकि उस दिन बटालिक और द्रास क्षेत्र में घमासान युद्ध चल रहा था। दरअसल क्रिकेट के बहाने तमाम बड़ी कम्पनियाँ कारोबार कर रही थीं और इसके लिए विश्वकप को उन्होंने 'राष्ट्रीय गौरव' से जोड़ दिया था। 12 जून के बाद क्रिकेट का स्थान कारगिल ने ले लिया और फिर उन्हीं कम्पनियों ने, जो कल तक क्रिकेट के जरिए देशभक्ति का स्वांग कर रही थीं, तुरन्त क्रिकेट की जगह कारगिल को बैठा दिया और अब कारगिल के नाम पर व्यवसाय होने लगा। इस काम में व्यापारियों को मीडिया से भरपूर सहयोग मिला।

ये खबरें 1999 की हैं।

अब एक दूसरी खबर देखिए जो अप्रैल 2017 की है। इस खबर का सम्बन्ध ईवीएम मशीनों से है। 13 अप्रैल 2017 को सभी अखबारों में और इससे पहले की रात में सभी टीवी चैनलों पर यह खबर दिखायी

दी कि 'चुनाव आयोग ने मई के पहले सप्ताह में ईवीएम को हाईजैक करने की खुली चुनौती दी है।' किसी अखबार ने लिखा कि चुनाव आयोग ने यह चुनौती अरविंद केजरीवाल को दी है तो किसी ने कहा कि सभी विपक्षी दलों को चुनौती दी गयी है कि वे आवें और ईवीएम मशीन की गड़बड़ी को साबित करें। बाद में पता चला कि यह खबर प्लांट करायी गयी थी। खबर पीटीआई द्वारा जारी की गयी लेकिन इसमें किसी स्रोत का उल्लेख नहीं है--केवल 'आधिकारिक सूत्रों' के हवाले से यह खबर जारी हुई है। न तो चुनाव आयोग ने इस आशय का कोई प्रेस रिलीज जारी किया और न कोई प्रेस कॉन्फ्रेंस आयोजित किया। जाहिर सी बात है कि ईवीएम मशीन की साख पर जो लोग सवाल उठा रहे हैं उनकी आवाज को बेअसर करने के लिए सरकार की ओर से यह खबर प्रचारित करवायी गयी। इसे आप आसानी से डिसइनफॉर्मेशन या मिसइनफॉर्मेशन अभियान का नमूना कह सकते हैं।

चुनाव के दिनों में पेड न्यूज के रूप में इस तरह की खबरें काफी चर्चा में रह चुकी हैं। पेड न्यूज के खिलाफ जबर्दस्त आवाज भी उठ चुकी है और भारतीय प्रेस परिषद ने भी इस पर कड़ा रुख अपनाया लेकिन प्रेस परिषद को बगैर दौत का शेर कहा जाता है क्योंकि इसके पास कोई अधिकार हैं ही नहीं।

अभिषेक श्रीवास्तव ने अपनी एक रिपोर्ट में 7 सितम्बर 2012 को इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित एक खबर के हवाले से बताया था कि किस तरह टीवी चैनलों और छत्तीसगढ़ सरकार के जनसंपर्क विभाग के बीच एक समझौता हुआ जिसके तहत मुख्यमंत्री रमन सिंह की रैलियों और सरकार समर्थक खबरों को प्रस्तुत करने के लिए एक निश्चित रकम ली गयी। जी न्यूज और जिंदल के बीच जो टकराव हुआ और जिसके नतीजे के तौर पर इसके दो सम्पादक सुधीर चौधरी और समीर अहलुवालिया जेल भी गये उसकी पृष्ठभूमि में भी छत्तीसगढ़

ही है जहाँ कि रायगढ़ जिले में लम्बे समय से जिंदल के स्टील संयंत्र के खिलाफ आन्दोलन चल रहा है। उस रिपोर्ट के अनुसार चूँकि कोयला घोटाले से भास्कर समूह के हित गहराई से जुड़े हैं लिहाजा इस घोटाले के समूचे प्रकरण में 'दैनिक भास्कर' इकलौता अखबार रहा जिसने किसी भी संस्करण में इस घोटाले से जुड़ी एक भी खबर नहीं छापी। अभिषेक का कहना है कि हाल के दिनों में मीडिया में तीन तरह के लोगों ने उद्यम शुरू किया है--रीयल एस्टेट, चिट फंड और नेता तथा उनके सगे सम्बन्धी। सत्ता, मीडिया और निजी पूँजी के इस घालमेल का सबसे बड़ा असर जनता के असल मुद्दों और अधिकारों पर पड़ा है। मुख्यधारा का मीडिया, जिसका काम जनता की समस्याओं और अधिकारों के दमन को सामने लाना था, वह पूरी तरह सत्ता और पूँजी के हितों के आगे बिक चुका है।

जनता के बीच भ्रम फैलाने और एक समुदाय विशेष के खिलाफ नफरत फैलाने के मकसद से आये दिन खबरें प्लांट होती रहती हैं। यहाँ मैं एक खबर का उल्लेख करना चाहूँगा जिससे पता चलता है कि इनका स्वरूप कितना खतरनाक हो सकता है। उत्तर प्रदेश सरकार के धार्मिक स्थल विधेयक के विरोध में 21 अप्रैल 2000 को नयी दिल्ली के रामलीला मैदान में मुसलमानों की एक विशाल रैली हुई। 'मजहब बचाओ' रैली को जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी के अलावा अनेक मुस्लिम नेताओं ने सम्बोधित किया। लगभग सभी अखबारों में इस रैली की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इन अखबारों ने अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य को रेखांकित किया कि रैली में संविधान समीक्षा तथा धर्मस्थल विधेयक के खिलाफ देश के मुसलमानों ने संघर्ष छेड़ने की घोषणा की। लेकिन 'दैनिक जागरण' ने जो समाचार प्रकाशित किया, उसमें एक खास तरह का कौशल दिखाई देता है। इस अखबार ने अपने शीर्षक में लिखा--'बुखारी का बाबरी मस्जिद बनाने

का ऐलान' और इसी के नीचे उपशीर्षक था-'मैं आई एस आई का सबसे बड़ा एजेंट, सरकार में दम हो तो गिरफ्तार करे।' यह उपशीर्षक बुखारी के किस वक्तव्य से लिया गया इसके लिए राजधानी से प्रकाशित हिन्दी और अंग्रेजी के सभी अखबारों को देखना जरूरी लगा। अन्य अखबारों की खबरों के अनुसार 'शाही इमाम ने कहा कि आई एस आई एजेंटों की गतिविधियों को रोकने की आड़ में यह बिल लाकर सरकार देश के मुसलमानों के खिलाफ नफरत फैलाने की कोशिश कर रही है। उन्होंने चुनौती दी कि सरकार अगर एक भी ऐसी मिसाल पेश कर दे जबकि कोई आई एस आई एजेंट किसी मस्जिद या मदरसे में पकड़ा गया हो तो वे खुद को हिन्दुस्तान में आई एस आई का सबसे बड़ा एजेंट घोषित कर देंगे।'

इस अखबार ने अगले दिन बुखारी के 'आई एस आई के सबसे बड़े एजेंट' से सम्बन्धित बयान के विरोध में इंद्रप्रस्थ विश्व हिन्दू परिषद, अखंड हिन्दुस्थान मोर्चा, अखिल भारतीय ब्राह्मण संघ, शिवसेना पूर्वी दिल्ली, भारतीय विद्यार्थी सेना जैसे ढेर सारे संगठनों के बयान प्रकाशित किये जिसमें माँग की गयी थी कि बुखारी को गिरफ्तार किया जाय और उन पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया जाय। इसके बाद 25 अप्रैल को 'दैनिक जागरण' ने पाँच कालम में फैला एक शीर्षक लगाया--'अब्दुल्ला बुखारी को गिरफ्तार करने की माँग जारी'। इस शीर्षक के अंतर्गत एक दर्जन संक्षिप्त समाचार थे। जिस समाचार से यह शीर्षक बनाया गया था वह किसी 'भारत हितैषी' नामक संगठन के अध्यक्ष कमल कुमार का वक्तव्य था। खबरों के साथ इस तरह का खिलवाड़ 'दैनिक जागरण' पहले भी करता रहा है और अयोध्या में कारसेवा के दौरान इसे इसके लिए ख्याति भी मिल चुकी है। रिपोर्टर ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि 'उम्मीद से ज्यादा भीड़ देखते ही बुखारी पहले से तैयार अपना भाषण पढ़ना भूल गये और रामलीला मैदान से संसद की

तरफ इशारा करते हुए कहा कि मारो इसे। उनके यह जोशीले अल्फाज सुनते ही मैदान में जमा हजारों मुसलमान भी मारो-मारो कहकर संसद की तरफ निहारने लगे।' यह एक खास तरह की रिपोर्टिंग थी जो किसी और अखबार में नहीं दिखाई दी।

कांग्रेस के पी वी नरसिंहराव ने 1991 से जिस नवउदारवादी आर्थिक नीति की शुरुआत की वह प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह से होती हुई नरेंद्र मोदी तक जारी है। सितम्बर 2006 में तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने नक्सलवाद और आतंकवाद की समस्या से निपटने के लिए विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया था जिसमें उन्होंने मुख्यमंत्रियों को सलाह दी कि वे मीडिया को 'कोऑप्ट' करने की कला सीखें। अब आज अगर नरेन्द्र मोदी की सरकार ने समूचे मीडिया को अपने अनुकूल कर लिया है तो इसमें आश्चर्य क्या। इसीलिए मुझे 2015 में अरुण शौरी की कही बात बहुत सही लगती है जिसमें उन्होंने मोदी सरकार को 'कांग्रेस प्लस काऊ' कहा था। लेकिन यह 'काऊ' वाला तत्व बेहद खतरनाक है।

ऐसी हालत में चौथे स्तम्भ का मर्सिया पढ़ने का समय आ गया है। अब यह तथाकथित चौथा स्तम्भ आम जनता के लिए दुश्मन के रूप में दिखाई दे रहा है। इसकी जब स्थापना हुई थी तो इसका मकसद लोकतंत्र के तीनों स्तम्भों--कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका पर निगरानी रखना था। लम्बे समय तक इसने अपने दायित्व को पूरा भी किया। लेकिन जैसा कि ऊपर बताया गया, इसका क्रमशः अधःपतन होता गया और आज ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि अब इससे कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। चूँकि इसपर किसी की निगरानी नहीं है इसलिए यह निरंकुश और बेलगाम हो गया है और अपने को जनता का नहीं बल्कि अपने कॉर्पोरेट मालिकों का जवाबदेह मानता है।

जाहिर है कि ऐसे में इन तीनों

स्तम्भों के साथ-साथ चौथे स्तम्भ पर भी निगरानी रखने की जरूरत है और हमें इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि क्या एक परिकल्पना के तौर पर ही सही हम किसी 'पाँचवें स्तम्भ' को खड़ा कर सकते हैं? यह पाँचवाँ स्तम्भ अन्य स्तम्भों के साथ-साथ विशेष रूप से चौथे स्तम्भ पर निगरानी रखेगा। आप यह सवाल उठा सकते हैं कि अगर चौथा स्तम्भ भ्रष्ट हो गया तो क्या गारंटी कि पाँचवाँ स्तम्भ भी भ्रष्ट नहीं होगा। बात सही है। यह भी भ्रष्ट हो सकता है लेकिन इस काम में इसे भी कई दशक लग जायेंगे जैसा कि चौथे स्तम्भ के सन्दर्भ में हुआ। यह पाँचवाँ स्तम्भ मुख्य रूप से पत्रकारों को लेकर बनाया जाएगा क्योंकि इसका काम पत्रकारिता पर निगरानी रखना है। बावजूद इसके इस स्तम्भ के साथ उन सभी लोगों को घनिष्ठ रूप से जोड़ना होगा जो राजनीति, स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थशास्त्र आदि अलग-अलग क्षेत्रों में किसी विकल्प के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इनके सहयोग के बिना न तो इस प्रयास को हम जिंदा रख सकेंगे और न इसे भ्रष्ट होने से बचा सकेंगे। यहाँ जवाबदेही

का भी सवाल है। हमारी जवाबदेही उस व्यापक जनसमुदाय के प्रति होगी जो मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध हैं और किसी विकल्प की तलाश में है। इसे एक आन्दोलन की तरह लेकर आगे बढ़ना होगा। केवल घोषणापत्र छाप देने और कमेटियाँ बना देने से इसे नहीं चलाया जा सकता। जब मैं आन्दोलन की बात करता हूँ तो हमें यह तय करना होगा कि हम किन्हें लेकर, किनके खिलाफ आन्दोलन करना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें पाँचवें स्तम्भ की मित्र शक्तियों की शिनाख्त करनी होगी। इसी को ध्यान में रखकर मेरा मानना है कि समाज में विभिन्न क्षेत्रों में विकल्प के लिए संघर्षरत शक्तियों को साथ लेना होगा क्योंकि यही हमारी मित्र शक्तियाँ होंगी। इनके जरिये ही हम एक समानांतर सूचना व्यवस्था विकसित कर सकते हैं। जर्मनी में फासीवाद के खिलाफ बौद्धिक लड़ाई लड़ने वाले मशहूर कवि और नाटककार बर्टोल्ट ब्रेख्त ने अपने एक लेख में झूठ के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिए कुछ तरीके बताए थे। उनका कहना था कि पाँच बातों को ध्यान में

रखना चाहिए: 1. सच को कहने का साहस 2. सच को पहचानने की क्षमता 3. सच को हथियार के रूप में इस्तेमाल करने का कौशल 4. उन लोगों की पहचान करना जिनके हाथ में सच का यह हथियार कारगर हो सकता है 5. व्यापक जनसमुदाय के बीच सच को फैलाने का हुनर।

पी. सार्नाथ ने अपने एक वक्तव्य में एक बार कहा था कि आज मीडिया का झूठ बोलना उसकी संरचनागत बाध्यता है और इसे वह अपने सभी उपादानों सहित आत्मसात कर चुका है। इससे सहमत होते हुए मैं अपनी बात जॉर्ज ऑरवेल के इस कथन से समाप्त करूँगा जिसमें उन्होंने कहा था कि 'इन ए टाइम ऑफ यूनीवर्सल डिसीट, टेलिंग दि ट्रुथ इज ए रिवोल्यूशनरी ऐक्ट।' यानी जिस समय चारों तरफ धोखाधड़ी का साम्राज्य हो सच कहना ही क्रान्तिकारी कर्म है।

धन्यवाद।

(‘मीडिया : आजादी और जवाबदेही’ विषय पर ‘मीडिया विजिल’ द्वारा 6 मई 2017 को आयोजित सम्मलेन में पढ़ा गया आधार पत्र।)



...पृष्ठ 27 का शेष

लगता है अमरीका ने भारत को उत्तर कोरिया के विरुद्ध इस्तेमाल करने की ठान ली है। ट्रम्प ने अपने भाषण में भारत, जापान और अमरीका के “कोरिया समस्या” को लेकर संयुक्त अभ्यास का जिक्र किया। जाहिर है चीन को इसकी भनक है। तभी उसने मोदी यात्रा से पहले भारतीयों की मानसरोवर यात्रा रद्द कर दी। दूसरे शब्दों में चीन यह चेतावनी दे रहा है, “देख लो, हम भी हैं।” पाकिस्तान के नाम पर गुरानि वाले मोदी की चीन के नाम पर घिग्घी बँध जाती है। अमरीका के सहारे ज्यादा कूदने पर, डर है देश को कहीं 1962 जैसी जलालत

न उठानी पड़े।

मोदी तो छिपा गये पर ट्रम्प ने यह खुलासा भी किया कि अमरीका अपनी फालतू गैस भारत को बेचेगा। ऊर्जा का अन्तरराष्ट्रीय बाजार कमजोर चल रहा है और सभी को खरीदार चाहिए। उधर, भारत में मोदी के दोस्तों अडानी, अम्बानी और जिंदल ने इस क्षेत्र में निजीकरण की लूट में बड़े मुँह मारने ही हैं। यानी ट्रम्प और मोदी दोनों को माफिक सौदा।

अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के “इकनॉमिस्ट” ने इस यात्रा पर यूँ ही नहीं लिखा है कि मोदी की शोहरत पूँजीपतियों को धड़ाधड़

जमीन दिलाने या नोटबंदी जैसे दुस्साहस की तो रही है पर किसी व्यापक आर्थिक विजन की नहीं।

ट्रम्प के हाथों मोदी की उपेक्षा, ट्रम्प की जीत पर दीवाली मनाने वाले मोदी भक्तों को निराश तो करेगी ही।

(पूर्व आईपीएस वीएन राय ने भारत के कई प्रधानमंत्रियों के साथ अमरीका की यात्रा की है। संयोग से अब की वे प्रधानमंत्री की यात्रा में तो नहीं पर अमरीका में मौजूद थे। जनज्वार डॉटकॉम से साभार)



मोदी की तारीफ में एक शब्द नहीं बोले अमरीकी राष्ट्रपति

--वी एन रॉय

मोदी के अमरीका पहुँचने पर हवाई अड्डे पर उनके स्वागत के लिए बमुश्किल एक मेयर का पहुँचना बताता है कि अमरीका में हमारे प्रधानमंत्री नरेन्द्र दामोदर दास मोदी की क्या कद्र और कितना महत्त्व है। भारत में मोदी के चाहने वालों के लिए यह किसी सदमे से कम नहीं है, क्योंकि चाहने वालों को सरकार पोषित मीडिया ने बता रखा है कि मोदी की अमरीका में धाकड़ छवि है।

पर यहाँ सब कुछ उल्टा देखने को ही मिला। बड़ी बात तो यह है कि अमरीका के वाशिंगटन स्थित व्हाइट हाउस में भारतीय प्रधानमंत्री मोदी का पारम्परिक रूप से लॉन पर मीडिया के सामने रस्मी स्वागत करते हुए अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प ने मोदी की व्यक्तिगत तारीफ में एक शब्द भी नहीं कहा।

इससे जाहिर होता है कि मोदी को ट्रम्प ने कोई भाव नहीं दिया, जबकि मोदी की ट्रम्प से पहली मुलाकात थी। पहली मुलाकात में यह रवैया आश्चर्य में डालने वाला है। यह आश्चर्य इसलिए भी है कि सरकार पोषित मीडिया ने देश को बहुप्रचारित स्तर पर बता रखा है कि मोदी की पूछ अमरीकी शासकों में दूसरे किसी भी भारतीय प्रधानमंत्री के मुकाबले बहुत ज्यादा है।

जानकारों को पूर्व भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गाँधी, नरसिम्हा राव, अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह की तारीफ में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपतियों के कसीदे याद हैं। ओबामा ने तो मनमोहन सिंह को विश्व के श्रेष्ठतम अर्थशास्त्रियों में शामिल बताया था। यह वही मनमोहन सिंह हैं जिनकी छवि भारतीय समाज में अब एक मौनी बाबा की बना के रख दी गयी है।

ऐसे “मौनी बाबा” के मुकाबले मोदी का स्वागत टॉय-टॉय फिस्स होना, मोदी की वैश्विक छवि पर एक सवालिया निशान खड़ा करता है?

हालाँकि कुछ का कहना है कि जिस ट्रम्प को बस अपनी तारीफ की ही आदत है, वह मोदी की तारीफ कैसे करता? एक अन्य विचार है कि मोदी में तारीफ लायक है भी क्या? कुछ भी हो, इसी ट्रम्प ने इसी व्हाइट हाउस लॉन पर कुछ ही दिन पहले रूमानिया जैसे अदने से देश के राष्ट्रपति की तारीफ के बिन्दु भी ढूँढ लिये थे।

मोदी का व्यक्तिगत अपमान इसलिए भी चुभने वाला हो जाता है कि उनके प्रधानमंत्री बनने के बाद भारत ने अमरीकी युद्ध इंडस्ट्री से रिकॉर्ड तोड़ युद्ध का सामान खरीद कर अमरीकी अर्थव्यवस्था को जमकर सहारा दिया है।

भारत ने 2009 में अमरीका से 200 मिलियन डॉलर की जंगी खरीद की थी, जो 2016 में बढ़कर 9 बिलियन डॉलर तक पहुँच गयी। यानी हथियार खरीद पर मोदी सरकार ने 2009 के मुकाबले 45 गुना अधिक बजट खर्च किया। इस खर्च का जिक्र स्वयं अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने अपने स्वागत भाषण में किया, विशेषकर भारत द्वारा 100 जहाज खरीदने के समझौते का।

दूसरे शब्दों में, जो पैसा देश के विकास में लगाना चाहिए था, वह अमरीकी रोजगारों को पैदा करने में मोदी सरकार लगा रही है। जबकि इसके बदले में अमरीका कोई ऐसा आश्वासन भी नहीं दे रहा कि भारतीय कम्प्यूटर प्रोफेशनल के अमरीका

आने पर लगने जा रहे प्रतिबन्ध कुछ ढीले किये जाएँगे। नारायण मूर्ति की इनफोसिस पर तो अभी-अभी एक भारी भरकम जुरमाना भी ठोका गया है।

हालाँकि, ट्रम्प ने भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र अवश्य कहा और यह भी कि दोनों देशों के संविधान के पहले तीन शब्द एक समान ‘वी द पीपल’ हैं। शायद लोकतंत्र की इस कसौटी पर जोर देने के बाद ट्रम्प को लगा हो कि इस सन्दर्भ में मोदी का अपना ट्रैक रिकॉर्ड इस योग्य नहीं कि उनकी तारीफ की जा सके। उन्होंने सरकारी काम-काज में मोदी सरकार के भ्रष्टाचार विरोधी दावों का जिक्र अवश्य किया, शायद इसलिए कि अमरीकी कम्पनियों को भारत में घूस देने से छूट मिल जाए।

भारत में बिका हुआ मीडिया मोदी की अमरीका यात्रा को जैसा भी बढ़ा-चढ़ा कर पेश कर रहा हो, अमरीकी मीडिया में बहुत कम और वह भी नेगेटिव बातें ही आ रही हैं। भारतीय दूतावास ने डॉलर शक्ति से एक दायम श्रेणी के अमरीकी अखबार में मोदी के हस्ताक्षरों का लेख छपवाया, जिसकी अमरीकी मीडिया में कोई चर्चा नहीं हुई।

इस लेख में आतंकवाद के विरोध में भारत और अमरीका के साझापन की बात कही गयी है। जबकि ट्रम्प ने स्वागत भाषण में उत्तर कोरिया का नाम लिया न कि पाकिस्तान का। आतंक के सन्दर्भ में मोदी भी बस अफगानिस्तान का नाम लेकर रह गये, पाकिस्तान का नाम लेने की हिम्मत मोदी नहीं दिखा पाये।

शेष पृष्ठ 26 पर...

न्याय पर भारी पड़ा विदेशी निवेश

18 मार्च को गुडगाँव (हरियाणा) की जिला अदालत ने हरियाणा राज्य बनाम जियालाल व अन्य के मामले में सजा सुनायी।

अदालती फैसले में 148 मजदूरों में से 13 को आजीवन कारावास, 4 को 5 साल के कारावास तथा 14 को तीन साल के कारावास की सजा सुनायी गयी है। बाकी 117 मजदूरों को 4 साल से ज्यादा समय तक बिना जमानत जेल में रखकर बाइज्जत बरी कर दिया गया है।

यह मामला 18 जुलाई 2012 को मारुति कम्पनी के मानेसर प्लांट में हुई हिंसा और आगजनी में एच आर प्रबन्धक अवनीश दावे की मृत्यु के सम्बन्ध में दर्ज किया गया था। इस मामले में पुलिस ने 213 मजदूरों को अभियुक्त बनाया था जिसमें से 148 को गिरफ्तार किया गया और बाकी के 65 को भगोड़ा घोषित कर दिया।

मारुति का मानेसर प्लांट गुडगाँव औद्योगिक क्षेत्र में है। यह क्षेत्र देश के सबसे बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में है और यहाँ 10 लाख से ज्यादा मजदूर काम करते हैं। मारुति के प्लांट में लगभग 4000 मजदूर काम करते थे। इनमें 1500 मजदूर स्थाई और 2500 ठेके पर थे। इस प्लांट में मजदूरों की कोई यूनियन नहीं थी। प्रबंधन यूनियन के सख्त खिलाफ था। प्लांट में 'काम का माहोल' बनाये रखने की जिम्मेदारी ठेकेदार के गुंडों और प्रबंधन द्वारा नियुक्त बाउंसरों पर थी।

मारुति के इस प्लांट में 43 सेकेण्ड में एक कार तैयार हो जाती थी। मजदूरों से लगभग 10 घंटे काम लिया जाता। इसके दौरान मजदूरों को चाय, नाश्ता, पेशाब और आराम के लिए मात्र साढ़े सात मिनट के दो ब्रेक मिलते थे। इसके अलावा प्रबंधन की कोई बात न मानने पर मजदूरों को काम से निकाल देना, तरह-तरह के जुमाने लगाकर पैसे काट लेना, उत्पादन की रफ्तार बढ़ा देना, छोटी-छोटी बातों पर मजदूरों के साथ गाली-गलौच व मारपीट करना आम बात थी।

एक तरफ कम्पनी का मुनाफा लगातार बढ़ रहा था तो दूसरी और बढ़ती महँगाई के अनुपात में मजदूरों की तनख्वाह और दिहाड़ी लगातार कम होती जा रही थी। इक्का-दुक्का मजदूर इसके खिलाफ आवाज भी उठाते तो गुंडों और बाउंसरों के जरिये उनसे निपट लिया जाता। इन्हीं परिस्थितियों के चलते मजदूर अपनी यूनियन बनाने को विवश हुए और काफी संघर्ष के बाद उन्होंने यूनियन बनाने में सफलता हासिल कर ली। यूनियन बनाने का प्रबंधक अवनीश दावे ने भी समर्थन किया था।

18 जुलाई 2012 की घटना की शुरूआत भी एक सुपरवाइजर और यूनियन पदाधिकारी जियालाल के बीच कहासुनी से हुई थी। सुपरवाइजर ने मजदूरों के सामने ही जियालाल को गालियाँ दीं। जब जियालाल ने प्रबंधन से इसकी शिकायत की तो उन्होंने उलटा जियालाल को ही बर्खास्त कर दिया। इस घटना से मजदूरों का गुस्सा बढ़ गया और उन्होंने प्लांट के अन्दर ही आन्दोलन शुरू कर दिया। प्रबंधन के आदेश पर प्लांट के अन्दर पहले से मौजूद बाउंसरों ने मजदूरों पर हमला बोल दिया। इसी दौरान प्रबंधन कार्यालय में आगजनी हुई जिसमें धुएँ से दम घुटकर प्रबंधक अवनीश दावे की मौत हो गयी। अदालत में हुई जिरह में जब पुलिस यह साबित नहीं कर पायी कि आग मजदूरों ने लगायी थी तो माननीय न्यायाधीश ने फैसले के लिए तर्क दिया कि मजदूर भी यह साबित नहीं कर पाये कि आग बाउंसरों ने लगायी थी। इस आधार पर अदालत ने अनुमान लगाया कि आग मजदूरों ने ही लगायी होगी। इसी अनुमान के आधार पर 13 मजदूरों को आजीवन कारावास की सजा दी गयी।

मुकदमे की सुनवाई के दौरान सामने आये तथ्यों से स्पष्ट हो गया कि पुलिस की जाँच कम्पनी प्रबंधन से बुरी तरह प्रभावित थी। पुलिस ने प्रबंधन द्वारा सौंपी गयी 148 मजदूरों की सूची के अनुसार ही गिरफ्तारियाँ की। पुलिस की गिरफ्तार व्यक्तियों की सूची

प्रबंधन की सूची की तरह ही वर्ण क्रमानुसार थी। पुलिस प्राथमिकी में दर्ज होते समय 55 मजदूर नामजद थे। लेकिन घटना के अगले दिन दोपहर तक 87 मजदूर गिरफ्तार हो चुके थे। बाकी मजदूरों की सूची ठेकेदारों ने पुलिस को दी थी। यह तर्क अदालत ने भी स्वीकार किया है। पुलिस ने मजदूरों से जिन हथियारों की बरामदगी की बात अपनी रिपोर्ट में लिखी थी वह पुलिस द्वारा जप्त किये गये हथियारों से बिलकुल अलग थी। इसके अलावा पुलिस ने घायलों की जो चिकित्सा रिपोर्ट पेश की थी वह फर्जी पायी गयी और पुलिस के गवाह 117 लोगों की पहचान नहीं कर पाये। गवाहों ने केवल 31 लोगों की पहचान की जिन्हें सजा सुनायी गयी है। कमाल यह है कि ये सभी 31 मजदूर यूनियन के पदाधिकारी या सक्रिय कार्यकर्ता हैं। इससे ज्यादा कमाल की बात यह है कि जिन 13 लोगों को उम्रकैद की सजा सुनायी गयी है उनमें 12 यूनियन के पदाधिकारी हैं। यह भी आश्चर्य ही है कि मजदूरों द्वारा किये गये बलवे और आगजनी में कम्पनी के किसी भी अधिकारी या स्टाफ को चोट नहीं पहुँची जबकि वे मौका-ए-वारदात पर मौजूद थे।

पुलिस जाँच में फर्जीवाड़ा और गवाहों द्वारा 117 मजदूरों की पहचान से इनकार की बात सामने आने पर मजदूरों ने जमानत के लिए चंडीगढ़ उच्च न्यायालय में अपील दायर की। उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने यह कहते हुए जमानत देने इनकार कर दिया कि जमानत देने से विदेशी निवेश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। सत्र न्यायालय ने भी शायद उच्च न्यायालय की परोक्ष हिदायत का खयाल करते हुए ही अपना फैसला सुनाया है। न्याय, पूँजी, सत्ताधारी वर्ग और मजदूरों के बीच के रिश्ते को स्पष्ट करने के लिए विदेशी निवेश के प्रति न्यायाधीशों की चिन्ता एक काफी अच्छी नजीर है।

-राजकमल



इनके छोटे बच्चे हैं ये कहाँ जाएँगे

“यहाँ से जाओ, हालात खराब मत करो।” राम निवास (इंसपेक्टर)

“इनके छोटे बच्चे हैं ये कहाँ जाएँगे।” मुस्कान (दूसरी कक्षा की छात्रा जो पास की फ़ैक्ट्री में रहती है)

यह दो वाक्य हमें निजामुद्दीन दरगाह के पास अमीर खुसरो पार्क की झुगियाँ टूटने पर सुनाई दिये। यह दो ऐसे लोगों का बयान है जिनकी उम्र, शिक्षा, अनुभव में बहुत ही फ़ासला है।

निजामुद्दीन दरगाह के पास बहुत से लोग आपको भीख माँगते, सफ़ाई करते, कार पार्किंग कराते, कूड़ा बीनते दिख जाएँगे। इन लोगों का रहने का स्थान फुट पाथ या अमीर खुसरो पार्क की झुगियाँ थी जहाँ पर यह जाकर दो वक्त की रोटी खाते और सो जाते थे। 16-17 मई को इनकी लगभग 325 झुगियाँ तोड़ दी गयी और उनमें आग लगा दी गयी।

यह बस्ती लगभग 13 साल पुरानी थी। इसमें पहले बहुत कम झुगियाँ थी। 18 दिसम्बर, 2012 को निजामुद्दीन डीडीए पार्क की झुगियों में रहने वालों को वहाँ से हटाकर खुसरो पार्क में रहने को कह दिया गया जिसके बाद यहाँ पर लगभग 325 झुगियाँ हो गयीं। यहाँ पर किसी का राशन कार्ड तो नहीं बना लेकिन ज्यादातर लोगों के पास पहचान के नाम पर आधार कार्ड है जिस पर खुसरो पार्क तथा बेघर (होमलेस) का पता है।

झुगियों में लगायी आग से नफीस (7 साल) घायल हो गया। नफीस आग से अपनी चप्पल निकाल लाना चाहता था जिसमें वह कामयाब भी हुआ लेकिन उसके शरीर का बायाँ हिस्सा, चेहरा और कंधा जल गया। नफीस अपनी माँ जुलेखा, पिता ओलाद अंसारी और तीन भाई-बहनों के साथ पाँच साल पहले बिहार के पूर्णिया जिले से आकर खुसरो पार्क की झुगियों में

रहता था। नफीस पास के ही सरकारी स्कूल में कक्षा एक छात्र का था। पिता अंधे हैं और दरगाह पर माँगते हैं, माँ जुलेखा आस-पास से कूड़ा बीनती हैं और बहन पंकी छोटे भाई की देख-रेख करने के लिए घर पर रहती है। इतने परिश्रम के बाद नफीस के घर का चूल्हा जलता था। अपनी चप्पल को आग में जलने से बचाने के लिए नफीस ने अपने शरीर तक का परवाह नहीं की। जुलेखा का कहना है कि झुग्गी में आग पुलिस वालों ने ही लगायी।

सलमा बेगम रोड की पटरी पर बैठे अपने बेटे ‘आजाद’ का आधार कार्ड देख रही हैं। आधार कार्ड पर बेटे की जन्म तिथि 30 अगस्त, 2012 और पता एसपीवाईएम, खुसरो पार्क अंकित है। पास में ही उनके पति सो रहे हैं और उनके दोनों बच्चे ‘आजाद’ और हमीदा खातून पास में खेल रहे हैं। सलमा बेगम बताती हैं कि उनके माँ-पिता बंगाल से थे वे दिल्ली आकर निजामुद्दीन के फुट-पाथ पर रहकर जिविका चलाने लगे। उनका जन्म 22 साल पहले इसी फुटपाथ पर हुआ था और फिर से वह फुटपाथ पर आ गयी हैं। शादी के बाद वह अपने पति के साथ कुछ दिन सराये काले खों की झुग्गी बस्ती में ही रहने लगी लेकिन किराये और आने-जाने में लगने वाले समय के कारण उसने खुसरो पार्क बस्ती में अपनी झुग्गी बना ली। यह उनकी केवल रहने की ही जगह नहीं थी उनकी जीविका का भी साधन था। उनके पति शेख जमील वहीं पर चाय की दुकान चलाते थे और सलमा बेगम, शकीना और नूरजहाँ के साथ मिलकर दरगाह में आने वाले लोगों की कार पार्किंग और देखभाल करती हैं जिससे उनको प्रति कार दस रुपये मिल जाते हैं। वह खुसरो पार्क में पाँच साल से रह रही हैं। उन्होंने बताया कि शबेरात से पाँच दिन पहले हमें वार्निंग

देकर गये थे कि अपना सामान हटा लेना वरना हम तोड़ देंगे। कल वे लोग झुगियाँ तोड़ दिये और जला दिये। वही लोग जलाये और वही बुझाये। हम तो सरकार से यही कहना चाहती हूँ कि हम जैसे रह रहे थे, हमें वैसे कहीं थोड़ी सी जगह दे दे रहने के लिये। छोटे-छोटे बच्चे हैं रोड पर कैसे रहेंगे?

शलीम खॉ बताते हैं कि यहाँ पर चिल्ड्रेन, लेडीज और फेमली तीन सेन्टर चलते थे और वह यहीं रहते थे और इस सेन्टर में काम करते थे। सलीम बिहार के सितामढ़ी जिले के हैं और तेरह साल से इस बस्ती में रह रहे थे। उस समय इस बस्ती में 22 झुग्गी थी उसके बाद 2012 में काफी झुग्गी आ गयी। वे पहले मजदूरी करके परिवार का गुजारा चलाते थे। तीन साल से एसपीवाईएम में नौकरी करते थे जिसमें उनको 8500 रुपये मिलते थे जिससे वे अपने पांच बच्चों सहित सात लोगों का खर्च चलाते थे। सलीम बताते हैं कि कई बार राशन कार्ड के लिए फॉर्म भरे लेकिन उनका राशन कार्ड नहीं बना। सलीम को चिन्ता है कि उनके घर के साथ-साथ उनकी नौकरी भी चली गयी। सलीम बताते हैं कि पुलिस वालों ने फायर ब्रिगेड का पाइप बिछा दिया उसके बाद आग लगायी और बुझायी, किसी भी मीडियाकर्मी को अन्दर नहीं आने दिया गया। सलीम की इस बात की सच्चाई हमारे सामने ही आ गयी जब निजामुद्दीन थाने के एसएचओ ने आकर हमें भी बाहर कर दिया और मेरे सामने ही पुलिसकर्मियों को आदेश दिया कि कोई भी अन्दर नहीं आये। सादी वर्दी में पुलिसकर्मी घूम रहे थे, थोड़ी देर बाद अन्दर से धुँआ निकलना शुरू हो गया। कुछ देर बाद दमकल की गाड़ी से आग पर काबू पाया गया।

आलीदा अपने छह दिन के बच्चे के गोद में लिये सड़क के किनारे बैठी थी तभी

इंसपेक्टर रामनिवास के साथ 25-30 पुलिसकर्मियों (जिसमें महिला पुलिस, भारत तिब्बत सीमा पुलिस, दिल्ली पुलिस) का जत्था आया और उसे भगाने लगा। आलीदा कहती हैं कि तुमने मेरी झुग्गी तोड़ दी अब यहाँ से क्यों भगा रहे हो, मैं नहीं जाऊँगी, दो महिलाएँ आलीदा का साथ देती हैं। आलीदा के पास खड़ा मैं उसके बच्चे की जन्मतिथि जानना चाह रहा था तभी इंसपेक्टर रामनिवास ने मुझे यह कहते हुए भगा दिया कि “यहाँ से जाओ हालात खराब मत करो”। मेरे कई बार जानकारी माँगने पर उसने मुझे अन्दर की तरफ धकेला और कहा कि एसएचओ के पास जाओ वह बतायेगा। सड़क पर कुछ आगे चलते ही मुस्कान मिली जो आपने भाई के साथ जा रही थी। वह चिन्ता प्रकट करती है कि “इनके छोटे-छोटे बच्चे हैं यह कहाँ जाएँगे”।

इसके बाद मुहम्मद इस्माईल मिले

जो कि उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर से हैं और लावारिस लाशों को दफनाने और जलाने का काम करते हैं। वह रिकशा पर अपनी समान को लादे फ्लाइओवर के नीचे खड़े हैं। इसी तरह का हाल नईम अख्तर, शाजिया, जाकीर हुसैन, मोहम्मद हनन खान का है। सभी अपना आधार कार्ड दिखा रहे हैं जिन पर पते के रूप में खुसरो पार्क लिखा हुआ है। ये लोग 5-10 साल, 40 साल पहले बंगाल, बिहार, यूपी से आये हुए हैं किसी का जन्म तो इसी फुटपाथ पर हुआ है और वह फिर से फुटपाथ पर आ गये हैं।

इनका गुनाह क्या है कि 40 साल से फुटपाथ पर रहने के बाद भी उनको दिल्ली का निवासी नहीं माना जा रहा है? उनके कबूतर के दरबनुमा घर को भी तोड़ कर इतनी भयानक गर्मी में खुले असमान के नीचे छोड़ दिया गया है जिसमें छोटे-छोटे बच्चे सहित बुरजुग भी शामिल हैं। अगर

गर्मी से इनकी मौत होती है तो इनकी जिम्मेवार कौन होगा? क्या इनके लिए भी कोई नेता, अभिनेता, स्टार खिलाड़ी आगे आयेगा? इनका हक कौन दिलवायेगा, इनको तपती गर्मी से कौन बचायेगा? क्या मानसिक गुलामी के शिकार लोगों के पास सोचने-समझने, इनसान को इनसान मानने का विवेक खत्म हो चुका है? एक तरफ दूसरी कक्षा में पढ़ने वाली मुस्कान है जो यह सोचती है कि इनके छोटे छोटे बच्चे हैं कहाँ जाएँगे दूसरी तरफ राम निवास जैसे इंसपेक्टर हैं जिसको किसी का दुख दर्द जानना भी हालात खराब करने जैसा लगता है। क्या पुलिस के बोर्डों पर शान्ति, न्याय, सेवा की बातें शोभा देती हैं?

मिर्जा गालिब का कहना था--

बस-कि दुश्वार है हर काम का आसँ होना
आदमी को भी मयस्सर नहीं इँसाँ होना

--सुनील कुमार



सेना का गिरता मनोबल

क्या आज देश की सेना का मनोबल इतना नीचे आ गया है कि इसे उठाने के लिए सेना अध्यक्ष को उस मेजर को सम्मानित करना पड़ा जिसने पत्थरबाजों से सैनिकों को बचाने के लिए एक निर्दोष नागरिक को अपनी जीप पर बाँधकर “ह्यूमन शील्ड” बनाया था। क्या सचमुच सेना का मनोबल इतना नीचे आ गया है, कि उसे ऊँचा करने के लिए देश के गृहमंत्री को सैनिकों की जिन्दगी का मोल एक करोड़ रुपये करना पड़ा है। क्या उन्हें यह डर है कि सैनिक अब देशप्रेम की खातिर जान नहीं देंगे, क्योंकि वे जान गये हैं कि उनकी कुर्बानी से केवल नेता और पूँजीपति मालामाल हो रहे हैं और उनके माँ-बाप-- देश के किसान, मजदूर बदहाल होते जा रहे हैं। क्या आप उस सेना के मनोबल को गिरने से रोक देंगे जिसे आपने अपने ही देश की जनता के खिलाफ और अपने ही भाई-बहनों के खिलाफ खड़ा कर दिया है!

देश के रहनुमा जरा गम्भीरता से सोचें कि सेना का मनोबल क्यों गिरता जा रहा है? सैनिकों में आत्महत्या का ग्राफ तेजी से ऊपर चढ़ता जा रहा है। छत्तीसगढ़ दुनिया के सबसे सघन सैन्य क्षेत्रों में से एक है। वहाँ 14 नागरिकों पर एक सैनिक तैनात है और वहाँ के सैनिकों का बयान आता है कि वे खुद को असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। आप सैनिकों को भरपेट खाना नहीं दे सकते और शिकायत करने पर उसे सस्पेंड कर देते हैं और उसके खिलाफ जाँच बैठा देते हैं। फिर भी आप मानते हैं कि सेना का मनोबल गिरने से रोक देंगे।

अगर देश का नाम भाजपा होता तो कोई दिक्कत नहीं थी। लेकिन देश के आगे भाजपा आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। नमक से जहर का काम मत करिये। आग बुझाइये, आग मत लगाइए। यह देश बहुत बड़ा है, जनाब। आपकी और हमारी कल्पना

से भी बड़ा। इस देश के साथ खिलवाड़ मत कीजिये। इस देश के टुकड़े मत कीजिए।

आपने कश्मीर में चिंगारी दिखाई, वह भभकर जलने लगा। जनाब, कश्मीरी कौन हैं? जिनके बारे में आप कहते हैं कि हमारी सेना उन्हें सबक सिखाएगी। किसे? कश्मीरियों को! या कश्मीर में रहने वाले भारतियों को। क्या आप भारत के निवासियों के खिलाफ हैं या कश्मीर को भारत का अंग ही नहीं मानते।

आपके राज में हर गाँव, हर मुहल्ले और हर शहर में आग लगी। आपने गुजरात में आग लगायी, गुजरात जल गया। आपने हरियाणा में आग लगायी, वह भी जल गया। मुजफ्फरनगर जला। सहारनपुर जल रहा है। महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश सुलग रहे हैं। उत्तर-पूर्व हिंसा की चपेट में है। जनाब, अखंड भारत की जगह आपका सपना खंड-खंड भारत तो नहीं है!!



समाज को अन्धविश्वासी बनाने की जीतोड़ कोशिश

उत्तराखण्ड की राजधानी होने के साथ ही देहरादून शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र भी है। 14-15 मई को यहाँ के एक निजी विश्वविद्यालय “ग्राफिक एरा” में अमर उजाला और इस विश्वविद्यालय के सौजन्य से ज्योतिष महाकुम्भ का आयोजन किया गया। इस महाकुम्भ का उद्घाटन मुख्यमंत्री त्रिवेन्द्र सिंह रावत ने किया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने ज्योतिष के ज्ञान को हमारे पूर्वजों की समृद्ध परम्परा बताया और इस पर गर्व करने को कहा। समापन भाषण में राज्यपाल श्री के के पाल ने ज्योतिष को वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर और ज्यादा सुदृढ़ करने की बात कही।

1 मई से ही इस कार्यक्रम के आयोजक जबरदस्त प्रचार में जुटे थे। अखबारों में ज्योतिष के दम पर सभी समस्याओं के समाधान के दावे भी किये गये थे। इनमें से कुछ अखबारों के शीर्षक इस तरह थे— “जिन्दगी की दुश्वारियों को दूर करेंगे ज्योतिष के ज्ञानी”, “हाथ हो या पैर देखकर बताएँगे ज्योतिषी आपके जीवन की खैर”, “समस्त जीवों के कल्याण का मार्ग है ज्योतिष शास्त्र”, “ज्योतिष है साइन्स”, “नयी पीढ़ी ज्योतिष शास्त्र की वैज्ञानिकता की कायल”। कुल मिलाकर ज्योतिष को सभी समस्याओं रोग, व्याधियों का समाधान करने वाले विज्ञान के रूप में स्थापित करने की पुरजोर कोशिश की गयी थी।

भारत में पत्रकारिता के लिए मानदण्ड स्थापित करने वाले पत्रकार गणेश शंकर ‘विद्यार्थी’ ने पत्रकारों के लिए कहा था कि जब किसी चीज के बारे में लिखो तो यह समझकर लिखो कि कोई तुम्हारे सामने बैठा है और तुमसे जबाब तलब कर सकता है। गणेश शंकर ‘विद्यार्थी’ द्वारा दिये गये सन्देश के आधार पर हम अखबारों से पूछते हैं कि क्या वे ज्योतिष के बारे में ऊपर कही गयी बातों को साबित कर सकते हैं। अगर अखबार और सरकार दोनों

का ही मानना है कि ज्योतिष सब समस्याओं का समाधान कर सकता है तो फिर संसद को बन्द करके वहाँ एक ज्योतिष कार्यालय खोलना चाहिए। कश्मीर से फौज हटाकर ज्योतिषियों को भेजना चाहिए। नोटबन्दी में कितने नोट जमा हुए, किसी को आज तक नहीं पता। अखबारों को देश हित में किसी काबिल ज्योतिषी से पूछकर यह संख्या जनता को बतानी चाहिए। हम ज्योतिष में रोगों से लड़ने की क्षमता बताने वाले पत्रकारों से पूछना चाहते हैं कि क्या वे खुद या बीबी-बच्चों के बिमार पड़ने पर डॉक्टर के पास जाने के बजाय ज्योतिषियों पास जाते हैं। मुख्यमंत्री ने ज्योतिष की समृद्ध परम्परा पर गौरव करने के लिए कहा है। वे ज्योतिष की सत्यता पर वाकई विश्वास करते तो उन्हें अपने चुनाव प्रचार में लाखों रुपये खर्च करने के बजाय ज्योतिषियों से अपनी जीत की पूर्व सूचना पाकर आराम से घर बैठना चाहिए था और अपनी पार्टी के बाकी लोगों से भी यही कहना चाहिए था।

उत्तराखण्ड के राज्यपाल श्री के के पाल ने अपने भाषण में ज्योतिष को विज्ञान से जोड़ा है। पहले वे दिल्ली के पुलिस कमिश्नर थे। उन्होंने कई बार पुलिस को आधुनिक उपकरणों से लैस करने की जरूरत पर जोर दिया। क्या उन्हें पुलिस के लिए आधुनिक उपकरणों के बजाय ज्योतिषियों को भर्ती करने की माँग नहीं करनी चाहिए थी। जरा सोचिए कितना अच्छा होता, पुलिस को सब अपराधों और अपराधियों का पहले से पता लग जाता।

अगर हम ज्योतिष के बारे में अखबारों और सरकारों की बातों पर विश्वास करें तो शायद वह दिन दूर नहीं जब अखबार हमें बीते हुए दिन की खबरें देने के जबाब आने वाले दिन की भविष्यवाणी प्रबंधन किया करेंगे।



...पृष्ठ 34 का शेष

में खाद बीज और कीटनाशक मिलते हैं।

कैसा दुर्भाग्य है कि खेती के लिए खाद-बीज उपलब्ध कराने वाले अरबों का विलय कर रहे हैं और खेती करने वाले कर्ज में डूबे हुए हैं, आत्महत्या कर रहे हैं। बेयर का इतिहास भी कम बेशर्मा का नहीं है। बेबी फारबेन के नाम से 1904 में ही इसने बीएएसएफ और एजीएफए के साथ गुट बनाकर उस समय का दुनिया का सबसे बड़ा कार्टेल बनाया था। उसके बाद जर्मनी की विश्वयुद्ध में हार के बाद बेयर के कार्ल डुइस्वेर्ग के नेतृत्व में देश के सभी रासायनिक उद्योगों ने विलय करके आईजी फारबेन बनाया। यह उस समय दुनिया का सबसे बड़ा कार्टेल और यूरोप का सबसे बड़ा निगम था। इस निगम द्वारा कंजरवेटिव पार्टियों को, खास तौर पर नाजियों को मोटा चन्दा दिया जाता था। बेयर और

दूसरी आईजी फारबेन की प्रयोगशालाओं और अनुसंधान केन्द्रों में युद्ध गैसों की खोज होती थी। प्रथम विश्व युद्ध में इसके उपयोग को बीएएसएफ के फ्रिट्ज हबर, फोसजीन गैस के आविष्कारक ने गरवान्वित होते हुए स्वीकारा भी। बेयर के डुइस्वेर्ग ने मस्टर्ड गैस के विकास को बढ़ावा दिया और प्रथम विश्व युद्ध में अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को तोड़ते हुए इसके उपयोग के लिए युद्ध उन्मादियों को उकसाया।

किसानों के खून से अपना मुनाफा सींचने वाली ये कम्पनियाँ राजनीति और युद्ध तक को बड़ी चतुराई से नियंत्रित करती हैं। युद्ध में लोग मरें या किसान आत्महत्या कर लें, इन कम्पनियों का मुनाफा निश्चित है। आखिर कब तक इनसान इन दैत्याकार कम्पनियों के सामने बौना साबित होता रहेगा। क्या इक्कीसवीं सदी भी कम्पनियों की सदी रहेगी? हरगिज नहीं!



वित्त विधेयक के अवैध और अनुचित उपयोग पर एक बयान

वित्त विधेयक 2017 को “धन विधेयक” के रूप में पेश करने पर 200 सजग नागरिकों का उपराष्ट्रपति को लिखा पत्र।

माननीय, अध्यक्ष महोदय, राज्यसभा

सरकार द्वारा सभी महत्त्वपूर्ण विधेयकों को पारित करने के लिए संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के बगैर धन विधेयक का इस्तेमाल करने को लेकर, जो सभी नागरिकों को प्रभावित करता है, भारत के सजग नागरिक होने के नाते हम व्यथित और निराश हैं।

आधार विधेयक के मामले में इस गैर-लोकतांत्रिक तरीके को पहले ही लागू किया जा चुका है, हालाँकि इसमें बहुत सारे ऐसे प्रावधान हैं जो सरकार की कर और धन विनियोग से सम्बन्धी मामलों से कोसों दूर हैं। यह सीधे-सीधे और कई तरह से हर नागरिक के हित को प्रभावित करेगा। इस तथ्य के बावजूद कि इसके चलते करोड़ों नागरिक अपने अधिकारों से वंचित हो सकते हैं, इस बिल में बहुत सी अनिवार्य और अन्य जनसेवाओं को आधार के साथ जोड़ा गया है। यह बात पहले ही साबित हो चुकी है कि कुछ राज्यों में खाद्यान्न वितरण के लिए इसे अनिवार्य बनाने के चलते बहुत से जरूरतमंद और योग्य नागरिक बिना वजह इससे वंचित हो चुके हैं। यह विधेयक हर नागरिक के ऊपर जबरदस्त निगरानी करने और उनकी निजता पर हमला करने की अनुमति देता है। इसका इस्तेमाल सरकार द्वारा विभिन्न स्तरों पर राजनीतिक विरोधियों और असहमत लोगों तथा साथ ही अन्य नागरिकों को निशाना बनाने में किया जा सकता है। चूँकि यह निजी कम्पनियों द्वारा भी सूचनाओं को साझा करने में समर्थ है जिसके चलते यह सभी नागरिकों को पहचान की चोरी, धोखाधड़ी, साइबर चोरी, डेटा उल्लंघनों और अपनी निजी सूचनाओं के अन्य उपयोगों की बहुत बुरी स्थिति में पहुँचा देता है जिसके गम्भीर सुरक्षा प्रभाव हो सकते हैं।

इसके अलावा, इस बिल में संरक्षण और साइबर सुरक्षा के प्रावधान नाकाफी हैं तथा ज्यादातर देशों में प्रचलित मानकों को पूरा नहीं करते। इतनी सारी बातों के बावजूद इस विधेयक पर राज्यसभा में बहस नहीं होगी और पर्याप्त जनसमीक्षा भी नहीं की गयी।

धन विधेयक के आड़ में महत्त्वपूर्ण और दूरगामी कानूनों को पारित करने का सबसे ताजा और खतरनाक उदाहरण वित्त विधेयक 2017 में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण चीजों को शामिल करना है जिनकी वास्तव में इस विधेयक कोई गुंजाइश नहीं और जो अलग से विचार-विमर्श और बहस के योग्य हैं। इस विधेयक में कई सारे ऐसे प्रावधान हैं जो “काला धन” और भ्रष्टाचार को काफी बढ़ा देंगे। एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान राजनीतिक पार्टियों को कॉरपोरेटों तथा विदेशों से असीमित और अनजान स्रोतों से चन्दा लेने में समर्थ बना देगा और और चुनावी अनुबन्धनों को गुमनाम बना देगा। यह बात सभी जानते हैं की राजनीतिक चन्दा हमारे देश में अत्यधिक पारदर्शिता के दावे की आड़ में इसे और अधिक अपारदर्शी बनाया जा रहा है। यह इन मामलों को उससे भी अधिक खराब कर देगा जितने की यह आज हैं। भविष्य में निर्वाचन लोकतंत्र के लिए इसके भयावह परिणाम होंगे। यह जन अधिकारों के लिए लड़ने वाले उन गैर सरकारी संगठनों तथा नागरिक संगठनों के लिए निर्धारित किये गये प्रावधानों से पूरी तरह उलट हैं जिन्हें संदिग्ध आधार पर वैध धन प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जा रही है। वित्त विधेयक 2017 आयकर विभाग को भी बिना किसी जवाबदेही के असीमित अधिकार देता है जिसके चलते सभी स्तरों पर जबरन वसूली को बढ़ावा मिल सकता है।

ऐसे विधेयक जिनका लोकतांत्रिक

कार्य पद्धति और हर नागरिक के आर्थिक सुरक्षा से गहरा ताल्लुक रखा है, उनके सभी प्रावधानों के सम्पूर्ण निहितार्थों की जानकारी के साथ सभी स्तरों पर गम्भीर और व्यापक जन विमर्श तथा बहस जरूरी है। जिससे कि ऐसे विधेयक मुद्रा विधेयक के रूप में पारित न हो सकें, और न ही होने चाहिए। अतः हम आपसे अपील करते हैं कि संसद के उच्च सदन में कम से कम विधेयक 12-सी, 2017 की हर पहलू से विस्तृत और निरंतर विमर्श चलाने की अनुमति दें और इसे दर्ज किया जाए, तथा यह सुनिश्चित करने के लिए कि महत्त्वपूर्ण विधेयकों को धन विधेयक के रूप में असंवैधानिक तरीके से वर्गीकृत कर किनारे लगाने की कोशिशों को आप अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए तत्काल रोकें। हम आपसे संसद के उच्च सदन के अधिकारों और कर्तव्यों तथा भारतीय जनता के हितों की रक्षा करने की अपील करते हैं। ऐसे विधेयक और प्रासांगिक प्रावधान जिन्हें किसी भी तरह से मामूली नहीं कहा जा सकता, उन्हें संसद के दोनों सदनों में लोकतांत्रिक जाँच-पड़ताल के दायरे में होना चाहिए।

-29 मार्च, 2017

हस्ताक्षर-- अरुणा रॉय, प्रभात

पटनायक, फॉली नरीमन, जयति घोष, जोया हसन, आनन्द तेलतुमड़े, मेधा पाटकर, मेरी जॉन, गिरीश कर्नाड, दीप जोशी, तीस्ता सीतलवाड, निखिल डे, कल्पना कन्नाबिरन, नंदिता दास, अमर कंवर, कविता श्रीवास्तव, हर्ष मंदर, पामेला फिलिपोज, वन्दना शिवा, वृंदा ग्रोवर, राम पुनियानी, टी एम कृष्णा, वजाहत हबीबुल्लाह, नंदनी सुन्दर, त्रिलोचन शास्त्री, बेजवाड़ा विल्सन, सतीश देशपाण्डे, एनी राजा, मोहिनी गिरी, निवेदिता मेनन, बेला भाटिया, नेहा दीक्षित, विपुल मुदगल.. आदि।



न्यायाधिकरणों का बधियाकरण

27 मार्च को वित्तमंत्री अरुण जेटली ने संसद में वित्त विधेयक पेश किया। यह वित्त विधेयक आजाद भारत के इतिहास का सबसे अनूठा विधेयक था। इस विधेयक में वित्त और बजट सम्बन्धी अलग-अलग सुधारों के अलावा इनकम टैक्स ऐक्ट एडमिनिस्ट्रेटिव ट्रिब्यूनल ऐक्ट, नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल ऐक्ट, कस्टम ऐक्ट जैसे कई कानूनों में सुधार के 40 प्रस्ताव पेश किये गये थे। ये संसोधन प्रस्ताव धन विधेयक के रूप में संसद पटल पर रखे गये। किसी कानून में संसोधन निश्चित ही धन विधेयक के दायरे में नहीं आ सकता, लेकिन सरकार ने राज्य सभा और संसद की स्थाई समिति तथा विशेषज्ञों की राय को दरकिनार करने के लिए इन्हें धन विधेयक के रूप में पेश किया। गौरतलब है कि सरकार ने 2014 से ही धन विधेयक को कानूनी तानाशाही थोपने का कारगर हथियार बना रखा है वित्त विधेयक में पेश 40 सुधारों में से सबसे महत्वपूर्ण है। पहला, किसी कॉरपोरेट संस्था द्वारा राजनीतिक पार्टियों को दिये जाने वाले चन्दे पर कोई नियंत्रण नहीं होगा। कारपोरेट और राजनीतिक पार्टी दोनों को ही चन्दे से सम्बन्धित जानकारी गुप्त रखने का अधिकार है। दूसरा, बैंको को चुनावी बाँड जारी करने की छूट दी गयी है। कोई भी व्यक्ति या संस्था या कॉरपोरेट समूह इन बाँड के जरिये राजनीतिक पार्टियों तक चन्दा पहुँचा सकता है। चन्दा देने

और लेने वाले की जानकारी गुप्त रहेगी। तीसरा, यह आयकर विभाग को किसी भी व्यक्ति या संस्था पर किसी भी समय बिना किसी जवाबदेही के छापा मारने और मुकदमा दर्ज करने के अधिकार देता है। चौथा और यह सबसे ज्यादा नुकसानदेह है 27 विभिन्न सुधारों के जरिये कई अधिनियमों में बदलाव किया गया है। इन कानूनों को लागू करने वाले न्यायाधिकरणों का नियंत्रण सर्वोच्च न्यायालय से छीनकर सरकार के हाथ में दे दिया गया है और कई न्यायाधिकरणों को आपस में मिला दिया गया है। जैसे कम्पनी ऐपेलेट ट्रिब्यूनल का नेशनल कम्पनी लॉ ट्रिब्यूनल में; साईबर एपीलेट ट्रिब्यूनल और एयरपोर्ट इकोनोमिक रेग्युलेट्री अथॉरिटी ट्रिब्यूनल का टेलीकॉम डिसप्यूट सेटलमेंट एंड ऐपीलेट ट्रिब्यूनल में एम्प्लाइज प्रोवीडेंट फण्ड ऐपीलेट ट्रिब्यूनल का इंडस्ट्रियल ट्रिब्यूनल में और कॉपीराइट बोर्ड का इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी ऐपीलेट बोर्ड में विलय कर दिया गया है।

न्यायाधिकरण सर्वोच्च न्यायालय के नियंत्रण में चलने वाली अर्ध न्यायिक संस्थाएँ हैं। इन्हें अलग अलग क्षेत्र में राज्य और संस्थाओं या व्यक्तियों के बीच होने वाले विवादों के निपटारे के लिए बनाया गया है। इनकी कानूनी हैसियत उच्च न्यायालय के बराबर होती है और किसी उच्च न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को इनका

अध्यक्ष बनाया जाता है। इनके प्रमुखों की नियुक्ति भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा होती है। नये संसोधनों से इनके अध्यक्षों, अधिकारियों की नियुक्ति, सेवा शर्तें, कार्यक्षेत्र और खर्चे तय करने का अधिकार सरकार के हाथ में आ गया है। सरकारी नियंत्रण में आने के बाद में संस्थाएँ राज्य के विरोध में दर्ज मामलों का कितनी ईमानदारी से निपटारा करेंगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

मोदी सरकार 2014 से ही न्याय व्यवस्था को नियंत्रित करने की कोशिशें कर रही है। सबसे पहले इसने उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय में अपनी पसंद के न्यायाधीश बैठाने के लिए 'कोलेजियम व्यवस्था' को बदलने की कोशिश की। हालाँकि उसे इसमें सफलता नहीं मिली लेकिन अलग-अलग विधायकों और न्यायालयों के आदेशों की अवहेलना के जरिये न्यायव्यवस्था को कमजोर करने की कोशिश लगातार जारी रही। न्यायाधिकरणों को सरकार के मातहत बना देने की उसकी यह ताजा कार्रवाई भी सत्ता को चन्द लोगों के हाथ में कैद करने की कोशिश है।

1975 में लगी इमर्जेंसी के दौरान 'इंदिरा इज इंडिया इंडिया इज इंदिरा' का नारा प्रचलित था। आज देश एक अघोषित इमर्जेंसी के दौर से गुजर रहा है बल्कि कई मामलों में तो बात इमर्जेंसी के दौर से कहीं आगे जा चुकी है।

निर्यात प्रोत्साहन, विशेष आर्थिक क्षेत्र, टारगेट प्लस आदि योजनाओं का गैर कानूनी फायदा उठाते हुए अडानी ग्रुप ने पिछले दशक में बेतहाशा मुनाफा कमाया है। इन आर्थिक कार्रवाइयों पर सवाल उठाते हुए भारत के रिवेन्यू इंटेलिजेंस डारेक्ट्रेट ने अडानी ग्रुप को नोटिस भेजा कि इन कानूनी सुविधाओं का गैरकानूनी फायदा उठाकर उसने 1000 करोड़ की कर चोरी की है। दरअसल इस समूह ने आयात-निर्यात के रूप में अपनी ही अलग-अलग कम्पनियों के बीच मालों की फर्जी खरीद-बिक्री की थी। जिसके

चलते ऊपर बतायी गयी योजनाओं के तहत अडानी ग्रुप की कुल आय में 1400 फीसदी तक वृद्धि हुई। सन 2003 में इस समूह का कुल कारोबार 377 करोड़ था जो 2006 में लगभग 11000 करोड़ तक पहुँच गया।

अडानी ग्रुप के मालिक गौतम अडानी के खासमखास हैं। उनके खिलाफ ये सब तथ्या अलग-अलग न्यायाधिकरणों के सामने आने के बावजूद भी वित्तमंत्रालय ने 1000 करोड़ के कर की हेराफेरी के मामले में अडानी को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी।

बीफ पर प्रतिबन्ध और किसानों की बदहाली

23 मई 2017 को भारत सरकार ने “पशुओं के प्रति नृशंसता प्रतिरोध (मवेशी बाजार नियंत्रण) अधिनियम” पारित किया। इसके साथ ही गायों की सुरक्षा के लिए हर एक गाय को आधार कार्ड उपलब्ध कराने की योजना भी ली गयी। इस अधिनियम में वध के लिए पशुओं की खरीद-बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाया गया। साथ ही पशुओं के किसी भी तरह के क्रय-विक्रय में खरीददार और विक्रेता, दोनों के लिए यह एफिडेविट देना लाजिमी बनाया गया कि उनकी खरीद-फरोख्त का मकसद वध नहीं है। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री देवेन्द्र फाड़नवीस ने अपने-अपने राज्यों में तुरन्त ही इस कानून को मंजूरी दे दी है। उत्तर-पूर्व के राज्यों में चुनाव प्रचार के दौरान भाजपा अध्यक्ष अमित शाह और गृह राज्यमंत्री किरन रिजिजू ने वहाँ की जनता को यह आश्वासन दिलाया था कि गाय का मांस खाने को लेकर भाजपा को ऐतराज नहीं है।

इस अधिनियम के लागू होते ही दोनों राज्यों में हजारों लोगों का रोजगार एक ही झटके में उजड़ गया। हालाँकि बाद में उत्तर प्रदेश सरकार ने सफाई दी कि यह कदम मांस तथा खाद्य उद्योग में केवल गुणवत्ता को सुरक्षित और बेहतर करने के लिए उठाया है और कसाईघर के लिए लाइसेंस सिर्फ उन्हीं को दिया जाएगा या पुनर्नवीकरण किया जाएगा जो गुणवत्ता के सारे पैमाने पूरा करते हों।

यह कानून कई कारणों से जनविरोधी है, पहला, बहुत से लोग जिनकी जीविका मांस व्यापार पर ही निर्भर है बेरोजगार हो जाएँगे; दूसरा, बहुसंख्यक लोगों के खान-पान पर एक खास तरीके के खान-पान को थोपा जा रहा है जो सांस्कृतिक बहुलतावाद के खिलाफ है; तीसरा, इससे अथाह पूँजी के मालिक देशी-विदेशी बड़ी कम्पनियों के

लिए मांस तथा खाद्य उद्योग में एकाधिकार जमाने का रास्ता खुल जायेगा; चौथा, किसान समुदाय के लिए गाय-भैंस सिर्फ खेती या दुग्ध उत्पादन के काम ही नहीं आते, बल्कि यह उनकी जमा पूँजी भी होते हैं, इस कानून के कारण पशु बेचकर अपनी जरूरतें पूरी करने का रास्ता उनके लिए बन्द हो जायेगा।

अगर रोजगार के मामले को ही लें तो भारत के अलग-अलग राज्यों के 22 लाख लोग मांस बिक्री के पेशे से सीधे जुड़े हैं। इसमें बहुत बड़ी आबादी अल्पसंख्यक और दलित समुदाय की है, जिनके पास जीविका का कोई दूसरा जरिया नहीं है। मांस के बाजार पर यह हमला इस विराट आबादी की रोजीरोटी पर हमला है।

सरकार ने यह कदम उठाने का कारण बताया है कि भारत की ज्यादातर आबादी शाकाहारी है। लेकिन भारत के रजिस्ट्रार जनरल के नमूना सर्वेक्षण का आँकड़ा इससे उलट बात कहता है। इसके अनुसार 15 साल या उससे ज्यादा उम्र के 71 फीसदी भारतीय मांसाहारी हैं। उत्तर भारत के राज्यों हरियाणा, राजस्थान और पंजाब में तस्वीर सरकारी बयान के अनुसार ही है। इन राज्यों में लगभग 70 फीसदी आबादी घोषित रूप से शाकाहारी है। लेकिन केवल तीन राज्यों की तस्वीर को पूरे देश के लिए सही ठहराना केवल झूठ का प्रचार करना ही है। इसके अलावा कौन क्या खाये, क्या पहने यह लोगों की अपनी मर्जी पर निर्भर है, किसी राज्य या राजसत्ता को इस पर नियंत्रण करने का अधिकार नहीं है। भारत की जिस अनेकता में एकता की बात की जाती है उसका अर्थ है कि विभिन्नता, यानी खान-पान और रीत-रिवाज के अलग-अलग तौर-तरीके हमारे देश की मौलिक संरचना का हिस्सा है।

जब इस अधिनियम पर समाज में बहस होनी शुरू हुई तो सरकारों की तरफ

से मांस-उद्योग में गुणवत्ता की दुहाई दी गयी। यह भी कहा गया कि गुणवत्ता को सुनिश्चित करने के लिए कसाईखानों की जाँच-पड़ताल के बाद ही उनके लाइसेंस का नवीनीकरण किया जाएगा या नया लाइसेंस दिया जायेगा। दरअसल यह सब केवल जनता की आँख में धूल झाँकना है। जहाँ तक गुणवत्ता की बात है तो देशभर में भूजल को प्रदूषित करने वाला कोका कोला, तमिलनाडु के कोडाई कोनाल की जमीन में मर्करी का जहर फैला रही हिन्दुस्तान लीवर, जिससे वहाँ काम करने वाले लोगों की हड्डियाँ गल रही हैं, 1984 में भोपाल में हजारों लोगों की जान लेने वाली और लाखों को अपंग बनाने वाली कम्पनी यूनियन कार्बाइड (अब डाय केमिकल) को तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। लेकिन न केन्द्रीय सरकार ने और न ही राज्य सरकारों ने इनको बन्द करने की दिशा में कोई प्रयास किया है। इसका मतलब है कि गुणवत्ता के नाम पर पहले से मौजूद कसाईखानों की तुलना में हजार गुणा बड़े कसाईखानों के लिए रास्ता साफ किया जा रहा है जो प्रदुषण भी ज्यादा करेंगे और मांस के बाजार पर भी एकाधिकार कायम करेंगे। फिर इस प्रतिबन्ध से बेरोजगार हुए लोग उन्हीं बड़े-बड़े कसाईखानों में किसी भी शर्त पर काम करने के लिए तैयार हो जायेंगे। सरकारों का यही मनसूबा है।

पशुपालन ग्रामीण अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके जरिये उन करोड़ों किसानों के हितों पर सबसे बड़ी चोट की गयी है जिनके लिए पालतू मवेशी उनकी सम्पत्ति हैं, जरूरत पड़ने पर जिसे बेचकर वे कुछ धन पा लेते हैं। इस अधिनियम के पारित होने के साथ ही गौ-रक्षा दल नामधारी गुंडों के गिरोह भी निडर होकर हर जगह पशु परिवहन करने वालों, चरवाहों, मृत जानवरों का चमड़ा उतारने वालों पर बिना किसी कानूनी सजा

के डर से लगातार हमला कर रहे हैं। पिछले साल गुजरात के उना में मृत पशुओं का चमड़ा उतार रहे दलित नौजवानों को पीटा गया। हरियाणा निवासी पहलु खान को भी बुरी तरह पीटा गया जब वे पशुओं को अपनी गाड़ी में लादकर राजस्थान में ले जा रहे थे जबकि उसके पास इसके लिए जरूरी कागजात भी थे। मई 2017 में झारखण्ड के कोल्हान गाँव में तीन हिन्दू युवाओं को इन्हीं गौ-रक्षकों के हाथों जान गँवानी पड़ी। दरअसल सत्ता में बैठी पार्टियाँ खुलेआम या गुप-चुप तरीके से उनका समर्थन कर रही हैं। खेती के संकट के चलते जहाँ एक तरफ पहले ही देश के किसान बदहाली में जी रहे हैं और आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं, उस पर ये कानून वाकई कोढ़ में खाज है।

बीफ पर प्रतिबन्ध और गौरक्षा के दोहरे हमले ने राजस्थान, उत्तर प्रदेश, हरियाणा और महाराष्ट्र के किसानों को बेजार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। एक तरफ तो सरकार की नीति और गौरक्षकों के डर से पशुओं के दाम में भारी गिरावट आयी है। दूसरी तरफ इससे जुड़े हुई सारे उद्योगों जैसे- चमड़ा, हड्डी, खुर आदि की

हालत भी बिगड़ चुकी है। ऐसे उद्योगों में से ज्यादातर लघु या मध्यम उद्योग के दायरे में आते हैं। इन सबकी गिनती अनौपचारिक क्षेत्र में होती है। नोटबंदी ने पहले ही इनकी कमर तोड़ दी थी और अब बीफ पर प्रतिबन्ध ने इनके तबाह होने का पक्का इन्तजाम कर दिया है।

समग्रता में देखें तो इस कानून से सरकार को ग्रामीण अर्थव्यवस्था को तोड़ने में काफी सहूलियत हो गयी है। लेकिन नये रोजगार पैदा करने की एक भी योजना अभी तक सरकार ने पेश नहीं की। इसके उलट पिछली सरकार द्वारा शुरू की गयी मनरेगा जैसी योजनाओं में भी कटौती कर दी गयी है।

केन्द्रीय सरकार का मसूबा खेती के संकट तथा ग्रामीण विकास के मुद्दे को बहस से बाहर करना है। इसके लिए वे हर रोज ऐसे नए मुद्दे उछाल रहे हैं और नीतियाँ लागू कर रहे हैं जिनका जनता के विकास से कोई लेनादेना नहीं है बल्कि जनता की जीविका को उजाड़ने वाली और देशी-विदेशी कम्पनियों के एकाधिकार को कायम करने वाली है।



कम्पनियों का गठजोड़, किसानों की बर्बादी!

कहीं आप यह तो नहीं सोच रहे कि इस बार कुछ और अच्छे उन्नत किस्म के बीज, उर्वरक और कीटनाशक का प्रयोग करके बढ़िया पैदावार करेंगे और अच्छा मुनाफा कमाएँगे। यदि हाँ तो मामला गड़बड़ है। क्योंकि आपके मुनाफे पर सात समुन्द्र पार बैठी अमरीकी कम्पनियों की नजर है। वे आपके मुनाफे में घात लगाए बैठी हैं। इतनी दूर से वे आपकी मेहनत की कमाई को कैसे लूट लेती है, इसका अधिकार उन्हें भारत की देशभक्त सरकारों ने दिया है।

खेती के लिए बीज, खाद और उर्वरक बेचने वाली दिग्गज कम्पनी मोन्सैंटो और बेयर गठजोड़ कर रही हैं। आज से पचास साल पहले मोन्सैंटो और बेयर को रसायन के क्षेत्र में एकाधिकार कायम करके प्रतियोगिता खत्म करने के मामले में अमरीकी न्यायालय ने इन्हें अपना गठजोड़ खत्म करने को कहा था। लेकिन अब तो एकाधिकार का दौर है। दुनिया की आबोहवा बदली है। बड़े-बड़े निगमों की सहूलियतें बढ़ी हैं। तो इस खुशनुमा वातावरण का फायदा उठाते हुए इन दोनों कम्पनियों ने फिर से एक दूसरे में विलय हो जाने का फैसला लिया है। यह इन दोनों कम्पनियों के पुनर्विवाह की तरह है। इस विवाह का 66 अरब डॉलर का खर्चा बेयर उठा रही है। इसका परिणाम होगा कि अब ये निगम दुनिया के 30 फीसदी कीटनाशक बाजार पर नियंत्रण कायम कर सकेंगे। नवनिर्वाचित राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने दोनों कम्पनियों के मुख्य अधिकारियों के साथ बैठक कर इन्हें अमरीका के कृषि विभाग की जिम्मेदारी सौंपी है। इस मिलन से मोन्सैंटो को अपनी हत्यारे की छवि से भी राहत

मिल जाएगी।

यूँ तो कम्पनियों का गठजोड़ कोई नयी घटना नहीं है पर चौंकाने वाली बात यह है कि कृषि क्षेत्र की कम्पनियों का विलय छलांग लगाकर आगे बढ़ रहा है। जहाँ 2010 में 65 अरब डॉलर के विलय प्रस्तावित थे, वहीं 2016 में 125 अरब डॉलर के विलय प्रस्तावित हुए हैं। बेयर और मोन्सैंटो के बाद डाउ और ड्यूपोंट तथा स्यंगेनटा और चीनी राष्ट्रीय रसायन निगम के विलय की तैयारी है। कृषि कम्पनियों का जितना ज्यादा विलय उतनी ज्यादा किसानों की मुसीबत। विलय से कम्पनी मनमानी कीमत वसूलने को आजाद होंगी। इससे किसानों की फसल लागत बढ़ जाएगी। किसान को फसल बोने से पहले ही एक बड़ी रकम लागत पर खर्च करनी होगी। बीज, खाद और उर्वरक की खरीददारी में ही किसान का दिवाला पिट जाएगा। कल को सूखा होगा या बाढ़ आयेगी अथवा फसल को कोई नहीं खरीदेगा, कौन जाने? आपकी लागत ही इतनी आजाएगी कि फसल आने पर कुछ फायदा तो दूर लागत निकालना भारी पड़ जाएगा। कम्पनी आपस में मिलीभगत करती हैं और सरकारों से अपने हित में नियम बनवाकर दोहरी लूट करती हैं। एक तरफ तो मनमाफिक दाम पर कीटनाशक और बीज बेचती हैं, दूसरी तरफ कर की चोरी करती हैं। वहीं इन दैत्याकार कम्पनियों के सामने किसान हरबार बौना साबित होता है। वह न तो अपनी फसल की कीमत तय कर पाता है और न ही उसे सस्ते

शेष पृष्ठ 30 पर...

भारत में अधिनायकवाद और बहुसंख्यकवाद के खतरे पर 65 पूर्व-अधिकारियों का खुला पत्र

विभिन्न केन्द्रीय सेवाओं से सेवानिवृत्त 65 वरिष्ठ अधिकारियों, जिनमें 1953 बैच के आईएएस 91 वर्षीय हर मंदर सिंह भी शामिल हैं, ने सभी लोक प्राधिकरणों और संवैधानिक संस्थाओं को भारत में अधिनायकवाद और बहुसंख्यकवाद के बढ़ते खतरे पर ध्यान देने के लिए एक खुला पत्र लिखा है। पूरा पत्र यहाँ दिया जा रहा है।

हम अलग-अलग बैच के अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं से सेवानिवृत्त अधिकारी हैं, जो अपने जीवन में केन्द्रीय और राज्य सरकारों के साथ काम कर चुके हैं। हमें पहले ही स्पष्ट कर देना चाहिए कि बतौर समूह हमारा किसी राजनीतिक पार्टी से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन हम भारतीय संविधान के प्रति निष्पक्षता, निरपेक्षता और प्रतिबद्धता पर यकीन रखते हैं। भारत में जो घटनाएँ घट रही हैं उनके बारे में एक गहन अशांति ने हमें यह खुला पत्र लिखने पर मजबूर किया कि हम हालिया राजनीति में घट रही घटनाओं के बारे में अपना असंतोष और असहमति जाहिर करें। आखिर ऐसा क्या गलत हुआ है?

ऐसा लगता है कि यहाँ धार्मिक असहिष्णुता का माहौल बढ़ रहा है जिसका मुख्य निशाना मुस्लिम समुदाय है। उत्तर प्रदेश में चुनाव प्रचार के दौरान कब्रिस्तान और शमशान घाट की संख्या को लेकर एक धिनौनी और स्पष्टतः साम्प्रदायिक तुलना की गयी। यह सवाल भी पूछा गया कि भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों को अपने-अपने त्योहारों के दौरान बराबर बिजली दी गयी या नहीं। यह सब बिना किसी तथ्य या प्रमाण के किया गया। पशुवधशालाओं पर लगाया गया प्रतिबंध सीधा अल्पसंख्यकों को निशाना बनाता है

और उनकी आजीविका को प्रभावित करता है। साम्प्रदायिक रूप से उत्तेजित वातावरण में इस तरह की असहिष्णुता हिंसा पैदा करती है, यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश में एक स्थानीय नेता ने पुलिस महानिदेशक के आवास पर हमला करवाया, जिससे उनके परिवार के लोग आतंकित हैं।

गैरजरूरी पहरेदारी बहुत फैल चुकी है। अखलाक की महज इस सन्देह पर हत्या कर दी गयी कि उसके घर में मौजूद माँस गाय का है। पहलू खान को बेरहमी से पीटा गया क्योंकि वह दो गायों को अपने घर ले जा रहा था, जिन्हें उसने खरीदा था और जिनके जरूरी कागजात भी उसके पास थे। सामान्य सन्देह के आधार पर जम्मू-कश्मीर में घुमन्तु चरवाहों पर हमला किया गया जबकि वे अपने पशु और अन्य सामान लेकर एक जगह से दूसरी जगह जाने का अपना परम्परागत काम कर रहे थे।

गौरक्षकों की कार्रवाइयाँ किसी सजा के डर के बिना जारी हैं और यह भी लगता है कि वे इस काम को राज्य मशररी की मौन सहभागिता या सक्रिय प्रोत्साहन से ही कर रहे हैं। हिंसात्मक कार्रवाई करने वालों के खिलाफ फौरन दंडात्मक कार्रवाई नहीं होती बल्कि निर्ममतापूर्वक हिंसा के शिकार लोगों के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज की जाती है। ऐसे पहरेदारों का बर्ताव, जो एक ही समय पर वकील, न्यायाधीश और जल्लाद का काम करते हैं, सच मानें तो कानून और न्यायव्यवस्था के मुँह पर तमाचा है। इस तरह की कार्रवाई कानून के शासन और भारतीय संविधान को कमजोर बना देती है। क्योंकि अपने अलग-अलग अंगों और संस्थाओं के जरिये कानून को लागू कराने

का अधिकार सिर्फ राज्य को ही है।

गैरजरूरी पहरेदारी ज्यादा लोकप्रिय होती दिखाई दे रही है जैसे 'एंटी-रोमियो' गिरोह उन युवा जोड़ों को धमकाते हैं जो साथ में बाहर घूमते हैं एक-दूसरे का हाथ पकड़ते हैं और सम्भवतः एक-दूसरे से प्यार करते हैं। यह एक झीना सा पर्दा भर है इसके पीछे की कोशिश हिन्दू-मुस्लिम प्रेम या शादी को रोकना है। कानून में इस तरह से इन जोड़ों को परेशान करने का कोई प्रावधान नहीं है। खासकर तब जब सम्बन्धित महिला की तरफ से उत्पीड़न की कोई शिकायत न की गयी हो।

हैदराबाद और जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय परिसर के छात्र समूहों और शिक्षकों को, जो लगातार समानता, सामाजिक न्याय और आजादी पर मुश्किल सवाल उठाते हैं, प्रशासन के हमले का निशाना बनाया जा रहा है जिसमें सरकार का भी पूरा समर्थन है। जोधपुर में एक नामचीन अकादमिक के पूर्व-निर्धारित व्याख्यान को दबाव के कारण रद्द किया गया और जिस शिक्षक ने इसका आयोजन किया था उसे अनुशासनात्मक कार्रवाई का सामना करना पड़ा। जो जोधपुर में हुआ वह अन्य संस्थानों पर भी हो चुका है। भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों के बारे में विमर्श और बहस का गला घोंटा जा रहा है, जो न केवल शिक्षण संस्थानों का बल्कि लोकतंत्र का भी जीवन-रक्त है। असहमति और विरोध को राजद्रोह और राष्ट्रदोह का दर्जा दिया जाता है। यह रवैया सोच और अभिव्यक्ति की आजादी को बुरी तरह प्रभावित करता है।

बहुत से प्रतिष्ठित गैर-सरकारी संगठनों और नागरिक संगठनों को विदेशी अनुदान (नियंत्रण) कानून और आयकर

कानून का शिकार बनाया जा रहा है। हालाँकि हम इस बात से भी सहमत हैं कि असली गुनाहगारों को चिन्हित किया जाना चाहिए और उन्हें सजा भी देनी चाहिए, लेकिन हम बेचैनी के साथ-साथ देखते हैं कि जिन पर हमला किया जा रहा है उनमें बहुत से समूह वही हैं जो सरकारी नीतियों के खिलाफ खड़े हुए, अपनी असहमति जतायी या उन समुदायों का समर्थन किया जो राज्य के खिलाफ लड़ रहे हैं।

हम उन कार्यकर्ताओं, पत्रकारों, लेखकों और बुद्धिजीवियों के खिलाफ चलने वाली ट्रोल, खतरों और ऑनलाइन धमकियों की गन्दी प्रवृत्ति को भी देख रहे हैं जो वर्चस्वशाली विचारधारा से असहमत हैं। अभिव्यक्ति

की आजादी के साथ इसका मेल कैसे हो सकता है।

यहाँ अति-राष्ट्रवाद बढ़ रहा है जो किसी भी आलोचना को एक पक्षधरता में समेट कर कम कर देता है, अगर आप सरकार के साथ नहीं हैं तो आप राष्ट्रद्रोही हैं। यह साफ सन्देश है कि जो सत्तासीन हैं उन पर सवाल नहीं उठाना चाहिए।

बढ़ते अधिनायकवाद और बहुसंख्यकवाद के सामने, जो किसी भी तरह की तार्किक बहस, विमर्श और विरोध की इजाजत नहीं देता, हम सभी लोक प्राधिकरणों, सार्वजनिक संस्थानों और संवैधानिक संस्थाओं से अपील करते हैं कि इन परेशान करने वाली प्रवृत्तियों को संज्ञान

में लें और इनको सुधारने के लिए जरूरी कदम उठाएँ। हमें भारत के संविधान की मूल भावना की पुनःप्राप्ति और रक्षा करनी चाहिए, जैसा कि हमारे संस्थापकों ने सपना देखा था।

हस्ताक्षर-- विवेक अग्निहोत्री, एस. अइलावादी, पी. एम्ब्रोस, इशरत अजीज, बालचंद्रन, चन्द्रमोहन, सुन्दर बुर्रा, अन्ना दानी, विभा पुरी दास, सुरजीत के दास, हीरक घोष, वजाहत हबीबुल्लाह, जी बालगोपाल, आर रामचन्द्रमोहन, कल्याणी चौधरी, मीना गुप्ता, के पी फेबियन, रवि वीरा गुप्ता, के के जायसवाल, सोनालिनी मीरचन्दानी, जे हरि नारायण, के आर पुनिया, वी रमानी... आदि।



इलाज और अंधविश्वास

दुनिया में बीमारियों का अध्ययन करने वाली संस्था 'ग्लोबल बर्डन ऑफ डिजीज' की रिपोर्ट के मुताबिक भारत सेहत के मामले में 195 देशों की सूची में 154 वे स्थान पर है। श्रीलंका, बांग्लादेश, भूटान और नेपाल भी भारत से बेहतर स्थिति में हैं। नवजातों की मौत को लेकर इस संस्था ने 1 से 100 तक पैमाना बनाया था। इसमें भारत को 14, अफगानिस्तान को 19 और सोमालिया को 21 अंक मिले हैं। यानी इस मामले में भारत की हालत अफगानिस्तान और सोमालिया जैसे तबाह देशों से भी खराब है। टीबी के इलाज की उपलब्धता में भारत को 100 में से 26 अंक मिले हैं जो पाकिस्तान, जिबूती और कांगो को मिले क्रमशः 29-29 और 30 अंकों से भी कम हैं। रिपोर्ट बताती है कि भारत में टीबी और किडनी की बीमारियाँ अन्य देशों के मुकाबले अधिक हैं और ये खतरनाक रूप से बढ़ती जा रही हैं। भारत में 75 प्रतिशत माओं को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिलता। पूरी दुनिया में प्रसव के दौरान होने वाली मौतों में एक

चौथाई भारत में होती हैं। बीमारियों को खत्म करने के तमाम सरकारी कार्यक्रम केवल हवाबाजी बनकर रह गये हैं।

पूरे स्वास्थ्य क्षेत्र पर नजर दौड़ा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा का क्षेत्र मुनाफे की लूट का चारागाह बन चुका है। बढ़ती बीमारियों और मंहंगे इलाज के चलते देश में अधिकाँश परिवार कर्जदार होते जा रहे हैं। लोग मंहंगे इलाज के अभाव में ओझा, बाबा और तांत्रिकों के जाल में फँसते जा रहे हैं।

जनता के स्वास्थ्य की भयावह तस्वीर से भी ज्यादा डरावना स्वास्थ्य के प्रति सरकार का अंधविश्वासी नजरिया है। इसकी एक झलक देश को तब ही मिल गयी थी जब प्रधानमंत्री मोदी ने सर्जरी से गणेश की गर्दन पर हाथी का सिर जोड़ने वाला बयान दिया था। उनके बयान से सरकारों को क्या प्रेरणा मिली उसकी एक झलक महाराष्ट्र सरकार की स्वास्थ्य नीति से मिल जाती है। राज्य सरकार ने मातृत्व से सम्बन्धित बीमारियों को नजरअंदाज करते हुए इस

बात पर ध्यान दिया है कि बेटा कैसे पैदा करें? इस राज्य में चिकित्सा विज्ञान के पाठ्यक्रम की किताब में बेटा पैदा करने के नुस्खे शामिल किये जा रहे हैं। यह किताब नादेड के डॉ. शंकर राव और चिकित्सा कॉलेज के पूर्व डीन डॉ. दिलीप की निगरानी में तैयार की गयी है। इसमें बताया गया है कि उत्तर दिशा मुखी बरगद, उड़द और सरसों को पीसकर इस मिश्रण का दही के साथ सेवन करने से पुत्र की प्राप्ति होगी। इस हास्यस्पद तथ्य को 'चरक संहिता' से लिया गया बताया है। इसके अलावा पुत्र प्राप्ति के और भी नुस्खे बताये गये हैं, जिनमें से एक तो बेहद खर्चीला भी है। इस नुस्खे के अनुसार सोने-चाँदी या लोहे से पुरुषों की दो छोटी मूर्तियाँ बनाकर उन्हें भट्ठी में जलाकर उसके भष्म को दूध या दही में मिलाकर पुष्प नक्षत्र में पीना होगा। इससे स्वस्थ पुत्र की प्राप्ति होगी। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार बाजार से खरीदे गये सोने का सेवन मनुष्य के लिए हानिकारक है।

आज दसवीं कक्षा तक जीव विज्ञान पढ़ा छात्र भी बता सकता है कि सन्तान का लिंग निर्धारण गुणसूत्रों पर निर्भर करता है। लिंग तय करने में माँ के बजाय बाप की भूमिका ज्यादा होती है क्योंकि महिला में दोनों गुणसूत्र एक्स-एक्स होते हैं लेकिन

पुरुष में एक एक्स और एक वाई होता है। समाज को पीछे ले जाने वाली सड़ी-गली मूल्य-मान्यताओं को दुबारा स्थापित करने पर आमदा सरकारें स्वास्थ्य विज्ञान की जगह अंधविश्वास को स्थापित करके इसके जरिये पूरे समाज में मर्दवादी

जहर तो फैला ही रही है, साथ-साथ समाज को यह सन्देश भी दे रही हैं कि सरकार अब जनता को ढंग का इलाज नहीं दे सकती। जो तंत्र-मंत्र और भभूत से जिन्दा रह सकता है रहे वरना मरे।

ज्वालामुखी पर बसा एक शहर

भारत में एक ऐसा शहर भी है जिसकी जमीन के नीचे पानी नहीं आग है। अन्य शहरों की तरह वहाँ भी रेलगाड़ियाँ चलती हैं, स्कूल हैं, लोग रहते हैं, काम करते हैं और जिन्दगी गुजारते हैं। लेकिन उन्हें पता नहीं है कि जिस जमीन पर वे आबाद हैं, वही जमीन उन्हें कभी भी बर्बाद कर सकती है। यह झारखंड के धनबाद जिले का झरिया क्षेत्र है, जो लगभग 160 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है।

यह पूरा इलाका कोयला खदानों के लिए प्रसिद्ध है। इन खदानों पर काबिज मुनाफाखोरों ने पूरे इलाके को असुरक्षित बना दिया है। यह सिलसिला आजादी के पहले से ही बदस्तूर जारी है। मुनाफाखोरों द्वारा असुरक्षित खनन के चलते इस पूरे इलाके की जमीन अन्दर से खोखली होकर बेहद ज्वलनशील गैसों का भण्डार बन गयी है और वहाँ कभी भी भयानक आग लग सकती है, जिससे यह जमीन यहाँ के लाखों निवासियों की कब्रगाह में तब्दील हो सकती है।

सरकार और पूँजीपतियों के गठजोड़ ने इन क्षेत्रों को आग के भण्डार में बदल दिया है। 1971 में राष्ट्रीयकरण से पहले झरिया इलाके की लगभग 70 कोयला खदाने अत्यधिक व असुरक्षित खनन के कारण आग की चपेट में थी। इसके बाद यह आग 7 और खदानों में फैली। इसकी भयावता का अंदाजा झरिया के फुलारीबाद क्षेत्र की

एक घटना से लगाया जा सकता है। घर के पास बने गड्ढे में एक बाप और बेटा गिर गये, जिसमे से कार्बन मोनोऑक्साइड का रिसाव हो रहा था। उन्हें बचाने के लिए पहुँची नेशनल डिजास्टर रेस्पोंसे फोर्स की टीम भी नाकाम हो गयी। लगातार तीन दिन तक प्रयास करने पर भी वे उन्हें नहीं निकाल पाये क्योंकि गड्ढे का तापमान बहुत अधिक था और उसमे से जहरीली गैसों का रिसाव हो रहा था। तीन दिन बाद उन्हें गड्ढा बंद करना पड़ा। आसपास के लगभग 27 परिवारों को इलाका छोड़कर जाना पड़ा। इस घटना के 2 दिन बाद ही झरिया के दूसरे इलाके में जमीन धँसने और गैस रिसाव से 4 लोगों के प्रभावित होने की खबर आयी। कमोबेश पूरे इलाके की यही तस्वीर बनती जा रही है। कब किस जगह से गैस का रिसाव हो जाए और कितने लोगों की जानें चली जाए यह कहना मुश्किल है। 2007 से विस्थापन जारी है, जो लोग विस्थापित हुए, उनमे से अधिकतर नयी जगह पर काम न मिलने के चलते अपने पुराने खतरनाक इलाके में वापस लौट आये हैं।

चौंकाने वाली बात यह है कि इस प्रभावित क्षेत्र से तीन रेल मार्ग, 'धनबाद-चंद्रपुरा', 'धनबाद-पथेर्दी' और 'आद्रा (पश्चिम बंगाल)- गोमोह', गुजरते हैं। 2007 में इनमें सबसे संवेदशील 'धनबाद- पथेर्दी' मार्ग बन्द किया जा चुका

है। 'धनबाद-चंद्रपुरा' रेलवे मार्ग आज भी मुख्य रेलवे लाइन की तरह इस्तेमाल हो रहा है। यह रेल मार्ग लगभग 41 किलोमीटर लम्बा है, जिस पर रोजाना लगभग 37 ट्रेनों की आवाजाही रहती है, जिसमे मालगाड़ी, एक्सप्रेस मेल और पैसेंजर गाड़ी शामिल है। इस मार्ग से सरकार को सालाना लगभग 2,500 करोड़ की आय होती है। लाखों लोगों की जिन्दगियाँ ताक पर रखकर मुनाफे का खेल जारी है। अगर किसी दिन कोई बड़ा हादसा हो जाये तो उसके लिए कौन जिम्मेदार होगा? लाखों लोगों की जिन्दगी से खेलने का हक सरकार को किसने दिया? क्या सरकार के लिए लोगों की जान से ज्यादा कीमती मुनाफा है?

देशी-विदेशी पूँजीपतियों और सरकारों के गठजोड़ की लूट अंग्रेजों को भी माद दे चुकी है। इस काम में देशभक्त सरकारों का भी पूरा सहयोग है। सरकार जनता से विश्वासघात करके जनता के दुश्मनों के साथ है। देश के संसाधनों को मुट्ठीभर लोगों के मुनाफे के लिए खुला छोड़ दिया गया है, जिससे आज करोड़ों लोगों की जिंदगी खतरे में है, साथ ही पर्यावरण संतुलन भी बिगाड़ दिया गया है। आज मुनाफे पर आधारित यह व्यवस्था पूरी दुनिया के लिए खतरा बन गयी है, जितनी जल्दी हो सके इसे बदल देने में ही पूरी दुनिया की भलाई है।

वित्तीय घाटा और कुशलता का मायाजाल

आजादी के बाद विकास की योजना आत्मनिर्भरता का नारा देते हुए बनायी गयी थी। यह अच्छी बात थी। आजादी मिलने के बाद देश के नेता कुछ सुविधा के बदले दूसरे देशों के हाथ कठपुतली बनना पसन्द नहीं करते थे। खेती और उद्योग दोनों को ही अर्थव्यवस्था की बुनियाद समझा गया था। सरकारी योजनाएँ भी इसी आधार पर बनायी गयी थी कि जमीन के मालिकों और फैक्ट्री के मालिकों को कुछ राहत मिले। बौद्धिक और तकनीकी विकास के लिए नये आईआईटी, आईआईएम तथा अन्य बड़े-बड़े शोध संस्थान खोले गये।

देशी उद्योगपति अभी तक इस काबिल नहीं थे, यानी इतनी पूँजी के मालिक नहीं थे कि अपने दम पर कारोबार चलायें। इसलिए सरकारी उद्योग खोलना लाजिमी था। योजना यह थी कि जमीन और फैक्ट्रियों के मालिकों को जितना ज्यादा मुनाफा मिलेगा उतनी ही खेत या फक्ट्रियों में काम करने वाले मजदूरों की आय बढ़ेगी और बाजार का विस्तार होगा। यह कोई नयी बात नहीं थी। 1830 के दशक में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी यही तरीका अपनाया था। कम्पनी का मानना था कि जमींदारों की तरक्की उनके नीचे रहने वाले खेतिहर मजदूरों और अन्य पेशों की तरक्की में भी मददगार होगी। उन्होंने इसे निम्नमुखी विकास नीति नाम दिया था। आज हम इसे ट्रिकल डाउन थ्योरी के रूप में जानते हैं।

आजादी के बाद विशेषकर उद्योग में सरकारी निवेश ही ज्यादा हुआ था और कुछ हद तक कल्याणकारी नजरिया रखने के चलते इन उद्योगों का मकसद मुनाफा बढ़ाना नहीं बल्कि लोगों तक जरूरी सामान पहुँचाना बनाया गया था। लेकिन इसके चलते हर

साल बजट घाटा पैदा होता था। इसको दूर करने के लिए सरकार तीन रास्ते अपनाती थी-- 1. अन्दरूनी बाजार से कर्ज लेना, जैसे निजी या सार्वजनिक कम्पनियों को, सार्वजनिक या निजी बैंकों को या लोगों को सरकारी बॉन्ड बेचकर पैसा उठाना, 2. दूसरे देशों या बाहरी संस्थानों जैसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि से कर्ज लेना, 3. रिजर्व बैंक से कर्ज लेना यानी रिजर्व बैंक नोट छाप कर सरकार को उधार दे।

अन्दरूनी बाजार से कर्ज लेने के लिए सरकार के सामने कर्जदाता के रूप में मुख्यतः सार्वजनिक बैंक और सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र ही था। इसके अलावा लोगों को पोस्ट ऑफिस में राष्ट्रीय संचय निधि, जीवन बीमा आदि की गारन्टी दलीलें बेचकर भी सरकार बड़ी रकम कर्ज लेती थी। इन दोनों स्रोतों से आने वाली रकम बजट घाटे को भरने के लिए काफी नहीं होती थी। इसलिए दूसरा रास्ता यानी अन्तरराष्ट्रीय संस्थानों (आईएमएफ, विश्व बैंक) से भी कर्ज लेना पड़ता था। लेकिन यह रकम भी पूरी अर्थव्यवस्था की तुलना में कुछ ज्यादा बड़ी नहीं थी। अक्सर तीसरा रास्ता अपनाया जाता था यानी रिजर्व बैंक से नोट छापकर घाटे की पूर्ति की जाती थी।

सन 1991 में जब भारत भुगतान सन्तुलन के संकट में फँस गया तो ऊपर बताये गये तीनों स्रोतों में सबसे छोटे आईएमएफ और विश्व बैंक ने कर्ज के बदले रिजर्व बैंक से कर्ज लेना बन्द करने की शर्त रखी। भारत सरकार खुशी-खुशी मान गयी। आज कुल विदेशी कर्ज 485.6 अरब डॉलर है जो सकल घरेलू उत्पाद का 23 फीसदी है।

बजट घाटा पूर्ति करने के लिए उधार

ली गयी रकम चुकानी भी होती है। सरकार को वह ऐसी उत्पादक योजनाओं में खर्च करनी पड़ती है, जिनसे उत्पादन तथा रोजगार में बढ़ोतरी होती हो। रोजगार में बढ़ोतरी मजदूरों की माँग बढ़ा देती है जिससे दिहाड़ी भी बढ़ती है। जिस दिन मजदूरों को इस बात का अहसास हो जाये कि उसे कहीं न कहीं नौकरी या काम मिल जायेगा, तो उसको कोई बेरोजगारी के चलते भूखे मरने से डरा नहीं सकता। इससे पैदा हुई वर्ग चेतना मजदूरों को अपने आस-पास की राजनीति और अर्थव्यवस्था में सिरकत करने को मजबूर करती है। यानी वर्ग सन्तुलन में बदलाव आता है या आने की सम्भावना बनती है। यह शासक वर्ग के लिए खतरनाक है। यानी बजट घाटा अपने आप में अर्थव्यवस्था के लिए भले ही नुकसानदेह हो लेकिन इसके राजनीतिक फायदे भी हैं और यही कारण है कि दुनिया भर की सलाहकार संस्थाएँ (आईएमएफ और विश्व बैंक आदि), 'वित्तीय घाटा' (जो बजट घाटे का ही परिवर्तित रूप है) कम से कम करने की शर्त पर ही कर्ज लेने का दबाव बनाती हैं।

साम्राज्यवादी संस्थाओं-- आईएमएफ और विश्व बैंक ने बाजार से कर्ज लिए बिना घाटा कम करने पर रोक लगाने की शर्त रखी। अब पहला ही रास्ता बचा था यानी अन्दरूनी बाजार से कर्ज लेना। उदारीकरण से पहले उत्पादन के सारे क्षेत्रों में सार्वजनिक संस्थाओं का वर्चस्व था। यानी इन संस्थाओं से उधार लेकर अगर रोजगार बढ़ाया जाता तो वह राजनीतिक रूप से खतरनाक था। इसलिए अर्थशास्त्र का एक नया जुमला पेश किया गया-- कुशलता।

सामान्य अर्थों में कुशलता का मतलब है, कम मेहनत से ज्यादा काम होना या यँ

कहें कि काम का सुचारु बटवारा ताकि कम समय और कम मेहनत से ज्यादा उत्पादन हो। सामान्य शब्दों में कहें तो जो काम एक आदमी बीस घण्टे की मेहनत से करता है, वही काम बीस आदमी से एक घण्टे में करवाया जा सकता है। लेकिन आज के अर्थशास्त्र में इसकी परिभाषा है उत्पादन लागत कम करना— यानी मजदूरों की दिहाड़ी कम करना या भारी पैमाने पर छँटनी। सरकारी कम्पनी में श्रम कानूनों का (बहुत कम ही सही) पालन करना जरूरी हो जाता है। इसलिए मजदूरों को न तो असानी से बाहर निकाला जा सकता है और ना ही उनको संगठित आन्दोलन करने से रोका जा सकता है। शगूफा छोड़ा गया कि सरकारी कम्पनियों में ज्यादा मजदूरी और साथ ही मजदूरी बढ़ाने के लिए संगठन करने का अधिकार होने के चलते उनका लागत मूल्य ज्यादा है, नतीजतन उनका मुनाफा कम है इसलिए कम्पनी अकुशल है, लागत मूल्य कम करने के लिए उत्पादन क्षेत्र में प्रतियोगिता जरूरी है यानी इन क्षेत्रों में निजी कम्पनियों को घुसने का लाइसेंस दिया जाये।

इसलिए 1991 के आर्थिक सुधार यानी उदारीकरण के बाद वित्तीय घाटा कम करने के लिए सरकार इन्हीं निजी कम्पनियों को सरकारी बॉन्ड बेचकर इनसे 'अन्दरूनी कर्ज' लेती है और इस प्रक्रिया में रोजगार में बढ़ोतरी या मजदूरी की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं आता।

लेकिन कम्पनियों के मालिकों और नये निवेशकों के लिए लाभकारी निवेश की अनुकूल परिस्थिति कायम रहती है।

इसी अनुकूल परिस्थिति को बनाये रखने के लिए निजी कम्पनियाँ सरकार पर लगातार वित्तीय घाटा कम करने का दबाव बनाती रहती हैं। 'ट्रिकिल डाउन' का सिद्धान्त यहाँ आकर चुक जाता है। कम्पनियों का मुनाफा तो लगातार बढ़ता है लेकिन रोजगार और मजदूरी नहीं बढ़ती।

स्किल इंडिया टॉय-टॉय फिस्स

6 जून 2017 को पत्रकारों द्वारा यह पूछने पर कि कितने लोगों को कुशल या 'स्किल्ड' बनाया गया या जाएगा, कुशलता विकास मंत्रालय के संयुक्त सचिव राजेश अग्रवाल ने कहा "हमें किसी संख्या के पीछे नहीं भागना हैं। चाहे कोई कुछ भी दावा करे, राष्ट्रीय कुशलता विकास निगम (एन एस डी सी) का 15 करोड़ या अलग-अलग मंत्रालयों के अनुसार 35 करोड़-- हमें किसी भी संख्या से कोई लेनादेना नहीं है।"

कुशलता विकास मंत्री राजीव प्रताप रूडी ने कहा "काम (लोगों को कुशल बनाने का काम) उसकी माँग को देखते हुए किया जायेगा, सप्लाई (कुशल मजदूरों की) एकतरफा नहीं बढ़ाई जाएगी।"

2014 में बनी नयी सरकार ने देश की बेरोजगारी की समस्या को गंभीरता से लिया और इसके कारण ढूँढने में ज्यादा वक्त जाया नहीं किया। बतौर कारण यह बताया गया कि हमारे देश के लोग आज भी उत्पादन में नौकरी/मजदूरी पाने लायक नहीं हैं यानी कुशल या 'स्किल्ड' नहीं हैं। इस समस्या से निजात पाने के लिए तुरन्त एक सरकारी योजना चालू की गयी जिसे 'स्किल इंडिया' नाम दिया गया और सन 2022 तक 50 करोड़ लोगों को कुशल मजदूर बनाने का फैसला लिया गया।

लोगों को कुशल बनाने की जिम्मेदारी निजी कम्पनियों को सौंपी गयी। कम्पनियों ने पढ़े-लिखे नौजवानों को 'स्किल्ड' बनाने के लिए अपनी कम्पनी में "नौसिखिये" के तौर पर रखना शुरू किया। सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम से भी कम या बिना मजदूरी दिये 6 महीने या एक साल तक उनसे काम करवाया गया, बदले में उन्हें एक प्रमाणपत्र दिया गया कि अब वे कुशल यानी 'स्किल्ड' मजदूर हैं।

लोगों को कुशल बनाने का खर्च भी कम्पनियों को सरकार ने कर्ज के तौर पर दिया (सरकारी भाषा में 'साफ्ट लोन') यानी कम्पनियों को लगभग मुफ्त के मजदूर और उनको रखने के लिए सरकारी सब्सिडी, दोनों ही मिली। इसके चलते शुरूआत में एन एस डी सी के जरिये कम्पनियों को दिए गये कर्ज भी न चुकाए गये कर्ज यानी नॉन-पारफॉर्मिंग एसेट (एनपीए) में तब्दील हो गये। 2014-15 में एक करोड़ पाँच लाख लोगों को कुशल बनाने का लक्ष्य था लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद यह संख्या 75 लाख तक ही पहुँच पायी। अगले दो सालों यानी 2015-16 और 2016-17 में एक करोड़ सात लाख लोगों को प्रशिक्षण दिया था। तुफानी अन्दाज में शुरू हुई योजना दो साल में ही घुटने के बल घिसटने लगी मजेदार तो यह है कि हाल ही में दिल्ली मेट्रो रेल ने भारी संख्या में कर्मचारियों की छटनी की है और उनकी जगह मशीनें लगायी हैं इससे साफ पता चलता है कि कुशल या अकुशल किसी भी तरह के मजदूरों की अब कंपनियों को ज्यादा जरूरत नहीं हैं

इसलिए 6 जून को कुशलता विकास मंत्री रूडी जी ने "स्किल इंडिया" कार्यक्रम को बन्द करने का फैसला लिया और कहा कि "अब कुशलता विकास की गुणवत्ता बढ़ाने की जरूरत है।"

सरकार ने योजना को बीच में छोड़कर कम्पनियों को मुफ्त के मजदूर और पूँजी दोनों देने में कुशलता हासिल कर ली। शायद यही इस योजना का मकसद था। हमारी सरकार कितनी दरियादिल है कि 1804 करोड़ रुपये केवल योजना बनाने और उसका प्रचार करने पर खर्च करके व 500 करोड़ रुपये कम्पनियों को बाँटकर, इत्मिनान से योजना बन्द कर देती है।

थोक के भाव राजद्रोह

होली के मौके पर अम्बाला के पास पत्थरहेड़ी गाँव में दलित समुदाय के कुछ लोगों ने सत्संग का आयोजन किया था। कुछ स्थानीय राजपूत युवाओं ने इस आयोजन को बंद कराने की कोशिश की और नतीजन दोनों पक्षों के बीच मारपीट हुई। इस दौरान एक राजपूत व्यक्ति की मौत हो गयी और 4 दलित युवाओं को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। दलितों का कहना है कि राजपूत युवक की मौत उनके हाथों नहीं हुई।

अप्रैल से ही उस गाँव तथा आस-पड़ोस के गाँवों के दलित करनाल शहर के करण पार्क में धरने पर बैठे थे। उनकी माँग थी कि सरकार इस घटना की न्यायिक जाँच करे। इनके एक प्रतिनिधि मंडल के साथ मुख्यमंत्री मनोहर लाल खट्टर की मुलाकात भी हुई। जून के दूसरे हफ्ते में इस विरोध का नेतृत्व करने वाले, प्रतिनिधि मंडल में शामिल लोगों के खिलाफ हरियाणा पुलिस ने राजद्रोह का मामला दर्ज किया है। प्राथमिकी में पुलिस ने राजद्रोह लगाने का कारण सरकार के खिलाफ भाषण देना और इलाके की शांति भंग करना बताया है।

इस घटना की जाँच के लिए जब हरियाणा के एक नागरिक संगठन “पीपुल्स यूनिजन ऑफ सिविल राइट्स” के प्रतिनिधियों ने पुलिस से प्राथमिकी देखने की माँग की तो “राष्ट्रीय सुरक्षा” का हवाला देते हुए पुलिस ने प्राथमिकी की प्रति देने से इनकार कर दिया।

हालाँकि यह कोई पहली बार नहीं है, जब प्रशासन ने न्याय की माँग करने पर किसी जन समुदाय के खिलाफ ऐसा कदम उठाया। 11 अप्रैल को पंजाब विश्वविद्यालय में फीस में 10 गुना तक की वृद्धि के खिलाफ भी प्रदर्शन करने वाले 66 छात्रों के खिलाफ तत्कालीन भाजपा-अकाली सरकार ने राजद्रोह का मामला दर्ज किया था।

तमिलनाडु के कुडानकुलम में नाभिकीय संयंत्र का विरोध करने वाले 8856 गाँव वालों के खिलाफ भी वहाँ की सरकार ने 12 सितम्बर 2016 को राजद्रोह कर मामला दर्ज किया। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार केवल 2014 में देशभर में कुल 58 लोगों को राजद्रोह के मामले में गिरफ्तार किये गये और 9 राज्यों में 47 मामले दर्ज किये गये थे। इन सारे मामलों में सरकार सिर्फ एक व्यक्ति के खिलाफ अभियोग साबित करने में सफल हुई थी, वह भी केवल निचली अदालत में।

आखिर न्यायसंगत जाँच की माँग स्वीकार करना सरकार के लिए इतना मुश्किल क्यों है? पत्थरहेड़ी की घटना की भी अगर सरकार जाँच करती और असली अपराधियों को सजा देने में मदद करती तो उसके लिए बहुत फायदे की बात थी। उससे राज्य और सत्तासीन पार्टी दोनों का ही फायदा था। राज्य को यह साबित करने का मिलता कि न्यायव्यवस्था सब के लिए बराबर है और सत्तासीन पार्टी यह साबित कर सकती थी कि वह देश के संविधान तथा न्यायव्यवस्था की कितनी बड़ी हिमायती है। लेकिन यह जानते हुए भी कि ऐसा करने से सरकार में लोगों की आस्था बढ़ती, उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? बल्कि दूसरे छोर पर जाकर पीड़ित समूहों के खिलाफ राजद्रोह जैसा मामला लगाकर क्या भाजपा सरकार जनता को यह सन्देश देना चाहती है कि उसके राज में न्याय का भी धार्मिक, जातीय और वर्गीय चरित्र है?

पहली सरकार भी कोई न्यायप्रिय सरकार नहीं थी। ओडिशा, छत्तीसगढ़, उत्तराखंड, मध्य प्रदेश में जीवन, जीविका, पर्यावरण के लिए आवाज उठाने वालों की बातों को अनसुनी करना या उनको विकास-विरोधी या माओवादी/नक्सली घोषित करना भी हम देख चूके हैं। सिंगुर, नंदीग्राम,

जगतसिंहपुर (पोस्को, ओडिशा) आदि मामले में आन्दोलनकारियों के खिलाफ सरकार ने डकैती, रहजानी का मामला भी दर्ज किया था। जिसके चलते आन्दोलनकारियों को रोजमर्रे की जिन्दगी जीना मुश्किल हो गया था। लेकिन उन मामलों में कम से कम राजद्रोह का मामला तो नहीं दर्ज किया गया।

आज हम देख रहे हैं कि छोटे-छोटे मुद्दों पर बोलने वालों के खिलाफ भी सरकारें राजद्रोह के मुकद्दमें लगा रही हैं। राजद्रोह एक ऐसा जाल है जिसको सरकारें अपने बचाव के लिए बहुत ही मजबूरी में इस्तेमाल करती हैं। इसका मतलब है सरकार के पास जनता से संवाद करने का कोई तरीका नहीं बचा। यह स्थिति तब पैदा होती है जब सरकार अपने ऊपर से भरोसा खो देती है। भरोसा खोने का एक ही कारण है कि वे जिस वर्ग के हिमायती हैं उसको भी सन्तुष्ट नहीं कर पा रही हैं, ऊपर से जिनके हित में उसे कुछ भी नहीं करना है, वे हर रोज कोई नयी माँग लेकर पहुँच जाते हैं।

भारत में कारोबार चला रही 12 सबसे बड़े कम्पनी बैंकों से लिए कर्ज की रकम न चुकाकर क्या देशद्रोही कार्रवाई नहीं कर रही हैं? लेकिन इनके खिलाफ सरकार ने देशद्रोह का कोई हथकंडा नहीं अपनाया। इसके उलट रिजर्व बैंक ने इनका नाम तक बताने से साफ मना कर दिया। परेशान सिर्फ उन्हें किया जा रहा है जो सरकारी नीतियों और कार्रवाइयों से परेशान होकर सरकार के सामने मुश्किल सवाल उठाते हैं। इसीके साथ सरकार कुछ मान्य-मूल्यताओं को बढ़ावा देने तथा उनके खिलाफ न जाने की चेतावनी भी दे रही है। गौ-रक्षा, ऐंटी-रोमियो आदि घटनाओं में उत्पीड़न के शिकार लोगों के खिलाफ ही मामले दर्ज किये गये। यह गुंडागर्दी को सरकारी समर्थन देने तथा इसके खिलाफ

कोई मुँह न खोले इस बात को निश्चित करने का तरीका है।

राजद्रोह का मुद्दा उछलकर सरकार पीड़ित जनता को बाँटने में सफल भी होती है। अब मामला यह नहीं रहता कि किसी घटना में दोषी कौन है और पीड़ितों को न्याय मिलेगी या नहीं। बहस इस बात पर शुरू हो जाती है कि जिनके खिलाफ राजद्रोह का मामला दर्ज हुआ उनके खिलाफ यह मामला बनता है कि नहीं।

इस तरीके से हर उस मुद्दे को छिपाने में सरकार सफल हो रही है जो जनता की रोजमर्रे की समस्या हैं जैसे- बेरोजगारी, शिक्षा, स्वास्थ्य, फसल का वाजिब दाम, मजदूरों को सही मेहनताना।

अगर गलत सरकारी नीतियों की खिलाफत करना, अपना हक माँगना राजद्रोह है तो फिर लोकतंत्र किसे कहते हैं? हर सरकारी आदेश का आँख मूँदकर पालन करने को? विरोध के बुनियादी अधिकार

की गारंटी हमारे देश के संविधान ने हर नागरिक को दी है। क्या हमारे देश की सरकारें इतनी कमजोर हैं कि न्याय और अधिकार की माँग करने से उनकी बुनियाद हिल जाती है? अगर वे वाकई इतनी कमजोर हैं, तो फिर उन्हें छाती पीटकर यह दावा नहीं करना चाहिए कि उनके पास देश को आगे बढ़ाने की योजना है। देशवासियों का गला घोट कर कोई देश आगे नहीं बढ़ा है।



महाराष्ट्र में आदिवासी बच्चों की कुपोषण से मौत

डॉ. अभय बाँग के नृत्य में गठित एक समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि महाराष्ट्र के केवल आदिवासी क्षेत्रों में ही कुपोषण और इससे जुड़ी बीमारियों से प्रतिवर्ष 10000 बच्चों की मौत हो जाती है।

इस रिपोर्ट पर संज्ञान लेते हुए मुम्बई उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति वी.एम. खाण्डे और न्यायमूर्ति ए.एम. बदर की खण्डपीठ ने सरकार को आदिवासी आबादी के हित में दिये तमाम अदालती आदेशों को तत्काल लागू करने का निर्देश दिया है। खण्डपीठ का कहना है कि इस मामले में सरकार केवल जबाँदारी करती है और अब वक्त आ गया है कि राज्य को अदालती आदेश की नाफरमानी का दोषी ठहराया जाए।

न्यायमूर्ति खाण्डे का कहना है कि यह मामला किसानों की कर्ज माफी से भी महत्वपूर्ण है। राज्य सरकार को लताड़ते हुए उन्होंने चेतावनी दी है कि अगर भविष्य में किसी बच्चे की कुपोषण से मौत होती है तो उसके लिए राज्य के मुख्य सचिव और जिला कलैक्ट्रेट को दोषी माना जायेगा।

जिस राज्य की जनता ऐसी भयावह स्थिति में फँसी है उस राज्य का स्वास्थ्य के प्रति नजरिया और भी ज्यादा भयावह है। इस राज्य में चिकित्सा विज्ञान की एक पाठ्य पुस्तक में पुत्र पैदा करने के टोटके समझाये गये हैं। यह पुस्तक नोदेड के डॉ. शंकर राव और एक मैडिकल कॉलेज के पूर्व डीन डॉ. दिलीप की निगरानी में तैयार की गयी है। अगर भूख से ही मरना है तो माँएँ पुत्र पैदा करके क्या करेंगी। और भी ज्यादा दुख की बात है कि ये दोनों घटनाएँ उस राज्य की हैं जिसने कभी डॉ. कोटनीस जैसी महान विभूती को जन्म दिया था।

यह सच है कि भूख से मर रहे बच्चों की कब्रों से अटे पड़े महाराष्ट्र के गाँवों की इस हालत के लिए केवल भाजपा शिवसेना गठबन्धन की हिन्दुत्ववादी सरकार ही जिम्मेदार नहीं है। इसके लिए उन नीतियों पर अमल करने वाली तमाम सरकारें जिम्मेदार हैं जो नीतियाँ अम्बानियों, अडानियों, जैसों को मेहनतकशों के बच्चों के मुँह से निवाला छीनकर अपनी दौलत

की हवस पूरा करने की छूट देती हैं। फर्क इतना है कि एक पार्टी की सरकार ऐसी रिपोर्टों के जवाब में मौन साध लेती है या ज्यादा से ज्यादा कुछ लोक लुभावन राहत देती है और दूसरी पार्टी की सरकार इस सच्चाई पर पर्दा डालने के लिए गौहत्या, मराठी मानुष जैसा कोई वितंडा खड़ा कर सकती है या सच्चाई सामने लाने वाले को देशद्रोही या नक्सली बता सकती है या भूख से मर रहे बच्चों के माता-पिता को किसी मंत्र का जाप करने या योग करने की सलाह दे सकती है। लेकिन यह तय है कि ये दोनों एक ही नीति की सेवा करेंगी इसलिए ये मेहनतकशों के बच्चों के पेट की क्षुधा शान्त नहीं कर सकती। अगर हम वाकई चाहते हैं कि इस धरती पर कोई भी बच्चा भूख से न मरे तो अम्बानियों, अडानियों की सेवा करने वाली नीतियों की जड़ खोदने के काम में लग जाने के अलावा हमारे पास कोई रास्ता नहीं है।



बेरोजगारी बढ़ाओ, देश को महाशक्ति बनाओ और असली देशभक्त कहलाओ

हमारा यह शीर्षक भले ही बेहूदा लगे, लेकिन हम जिस भारत में रहते हैं उसके लिए यह पूरी तरह सच है। एक बार जरा ठंडे दिमाग से सोचें।

सालों से सरकारें हम सभी को इस बात पर सहमत करने की कोशिश कर रही हैं कि देश में निवेश और शेयर बाजार जितना बढ़ता है, देश की तरक्की भी उतनी ही बढ़ती है। आर्थिक तरक्की के साथ ही देश की हर तरह की तरक्की जुड़ी हुई है।

किसी भी निवेशक के लिए निवेश करने का एक मात्र मकसद होता है, ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना। जिस देश में उसे ज्यादा मुनाफा मिले वह उसी देश में पूंजी निवेश करेगा। इसी तरह जो कम्पनी ज्यादा मुनाफा कमाएगी उसी के शेयर का दाम उछलेगा।

हम अपने रोजाना के अनुभव से देखते हैं कि हर कम्पनी माल उत्पादन के लिए कच्चा माल, बिजली या ईंधन, जरूरी मशीनें दूसरी कम्पनियों से खरीदती है। और दूसरी कम्पनी अपना माल तभी बेचती है जब उसे मुनाफा दिखता है। यानी कोई कम्पनी कच्चा माल-मशीनरी आदि की खरीद में नहीं बल्कि इनसे अपना माल तैयार करके ही मुनाफा कमा सकती।

हम में से बहुत से लोग कम्पनियों में नौकरी करते हैं। कम्पनी जब हमें नौकरी पर रखती है तो उसकी कोशिश होती है कि हमें कम से कम मजदूरी या वेतन दे। यानी एक दिहाड़ी में हम जितनी कीमत का काम करते हैं हमें इसका छोटे से छोटा हिस्सा मिले। क्योंकि यही एक मात्र जरिया बचता है जहाँ से कम्पनी मुनाफा कमा सकती है। यानी कम्पनियाँ हमारी मजदूरी/वेतन में

जितनी कटौती करती है उसका मुनाफा उतना ही ज्यादा होता है। जितना ज्यादा मुनाफा बढ़ेगा, शेयर सूचकांक उतना ही चढ़ेगा और हमें सिखाया गया है कि शेयर सूचकांक जितना चढ़ता है देश की तरक्की उतनी ही ज्यादा होती है। हमारे देश की वर्तमान सरकार इस चीज को सबसे बेहतर जानती है। इसलिए सन 2014 में उन्होंने मजदूर कानून में बदलाव लाकर काम के घंटे बढ़ाने का तथा मजदूरी घटाने का प्रबंधन किया है।

आप कह सकते हैं कि कम मजदूरी ही सही लेकिन सबको रोजगार तो मिले। लेकिन ऐसा करके देश की आर्थिक वृद्धि दर उतनी नहीं बढ़ती, जितनी से देशी-विदेशी उद्योगपति/निवेशक को लुभाने लायक मुनाफा हो। ऊपर हमने देखा कि मुनाफे और मजदूरी/वेतन के बिच उलटा रिश्ता है मजदूरी जितनी कम होगी मुनाफा उतना ही ज्यादा, इसी तरह इसका उलटा भी सच है। ज्यादा से ज्यादा मुनाफे के लिए कम से कम मजदूरी लाजिमी है। फिर उसका उपाय क्या है?

बेरोजगारी इस समस्या का रामबाण इलाज है।

मान लीजिए कोई काम आप 6000 रुपया महीना वेतन पर करने को तैयार नहीं हैं, और चाहते हैं की कम से कम 8000 रुपया महीना तो आपको मिलनी ही चाहिए। इससे कम में आपका गुजारा नहीं हो सकता। ऐसे में, कम्पनी को इससे कम में काम करने वाला कोई दूसरा आदमी नहीं मिलता तो वह अपना काम निकलवाने के लिए आपकी बात मान लेती है, और आपकी तनखाह बढ़ा देती है। लेकिन अगर 10

और बेरोजगार नौजवान नौकरी की तलाश में हों तो? कम्पनी आपको निकाल कर आपकी जगह किसी और को आप से भी कम तनखाह पर रख सकती है, क्योंकि काम माँगने वाले को पता है कि बाहर 9 लोग और खड़े हैं जो इससे भी कम पैसे में काम करने को तैयार हैं। यानी मजदूरी/वेतन में कटौती से मुनाफा बढ़ाने का तरीका तभी कारगर हो सकता है जब देश में बेरोजगारों की फौज हो। यानी बेरोजगारों की संख्या जितनी ज्यादा बढ़ेगी देशी-विदेशी निवेशकों के हमारे देश में निवेश करने की सम्भावना बढ़ेगी। ऐसे ही देश की आर्थिक तरक्की लगातार बढ़ती जाएगी, शेयर बाजार उछलता जाएगा हमारा देश आर्थिक महाशक्ति बनने की ओर बढ़ेगा। इसी राह पर चलकर हमारा देश एकदिन चीन, पकिस्तान यहाँ तक कि अमरीका को भी सौ मील पीछे छोड़ देगा।

एक समस्या अभी और भी है, अगर सरकारी नौकरी, छोटी दुकानदारी और खेती में आय अच्छी होगी तो बेरोजगारों की फौज छोटी हो जायेगी। सरकार ने इस विषय को भी गम्भीरता से लिया और इसका इलाज भी ढूँढ निकाला है। पिछले कई सालों में सरकारी नौकरियों में लगातार कटौती की गयी है। विदेशी कम्पनियों को खुदरा बाजार में आने की छूट, नोटबंदी, कैशलेस, जी एस टी जैसी योजनाएँ सरकार की इसी दूरदृष्टि का प्रमाण हैं।

तो सभी देशभक्त भाइयों-बहनों से अपील है कि देश की तरक्की के इस महायज्ञ में अपना योगदान दें। मालिकों की हर बात सुनें तनखाह कम से कम लें, निशुल्क काम करें तो और बेहतर!



जिन्दगी और कानून

-जॉन गाल्सवर्दी

सन 1950 की बात है। वसंत का दिन था। वकील साहब अपने मित्र के साथ शराब के पेग पर पेग चढ़ा रहे थे। वकील साहब बोले “उस दिन अपने पिता के पुराने कागजों को टटोलते हुए यह अखबार की कतरन मेरे हाथ लगी। चाहे तो पढ़कर सुनाऊँ।

“सुनाओ”-- मित्र ने कहा।

वकील साहब ने सुनाना शुरू किया-- “कल लंदन की पुलिस अदालत में एक शरीफ से लगने वाले आदमी की वजह से सनसनी दौड़ गयी। वह पुराने से कपड़े पहने हुए था। उसने जज साहब से कुछ सवाल किये।”

“योर ऑनर। क्या मैं एक सवाल पूछ सकता हूँ।”

“जरूर।”

“क्या मैं जीवित हूँ।”

“यहाँ से चले जाओ।”

“हुजूर, मैं बिलकुल गम्भीरता से बात कर रहा हूँ। यह जानना मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है।”

“क्या तुम पूरी तरह होश में हो?”

“जी हाँ हुजूर। मैं पूरी तरह होश में हूँ।”

“तो तुम्हारे यहाँ आने और मुझसे ऐसा सवाल करने का कारण?”

“हुजूर, मैं बेकार हूँ।”

“इस सवाल का इससे क्या सम्बन्ध?”

“हुजूर बात यह है कि मैं पिछले दो महीने से बेकार हूँ, जिसमें मेरा कोई कसूर नहीं है। हुजूर! निस्सन्देह आपने सुना होगा कि मुझ जैसे सैकड़ों-हजारों आदमी इसी तरह बेकार हैं।”

“ठीक है, आगे कहो।”

“हुजूर मेरा किसी यूनिजन से कोई सम्बन्ध नहीं है।”

“हाँ, हाँ।”

“हुजूर, पिछले तीन सप्ताह से मेरे पास खाने-पीने के सभी सामान खत्म हो चुके हैं। मैंने काम पाने की भरसक कोशिश की, पर सफलता नहीं मिली।”

“क्या तुमने अपने जिले की दुःख निवारण समिति को सूचना दी?”

“हुजूर, मैं वहाँ भी गया था। किन्तु वहाँ जगह नहीं है।”

“क्या तुम्हारे मित्र या सम्बन्धी तुम्हारी सहायता नहीं करते?”

“हुजूर, उनमें से आधे तो मेरी ही हालत में हैं और बाकी

मुझसे तंग आ चुके हैं।”

“तो तुम...”

“वह सब कुछ लेकर खत्म कर चुका हूँ, जो वह मुझे दे सकते थे।”

“क्या तुम्हारे बीवी-बच्चे नहीं हैं?”

“नहीं हुजूर यह मेरे सिद्धान्त के खिलाफ है।”

“अच्छा ‘रैन बसेरे’ भी तो तुम्हारे लिए हैं। तुम्हारा अधिकार है कि...”

“हुजूर, मैं ऐसी जगहों पर रह चुका हूँ, लेकिन कल रात हम दर्जनों लोग जगह की कमी के कारण वहाँ से निकाल दिये गये। हुजूर, मैं भूखा हूँ, क्या मुझे काम करने का अधिकार है।”

“सिर्फ पूअर लॉज के अन्तर्गत।”

“हुजूर, मैंने आपको बताया कि पिछली रात मैं वहाँ से निकाल दिया गया। क्या मैं किसी को मजबूर नहीं कर सकता कि वह मुझे काम दे।”

“नहीं, मुझे यह कहते हुए बड़ा दुख है।”

“हुजूर, मुझे भोजन की सख्त जरूरत है। क्या मुझे सड़क पर भीख माँगने की इजाजत दे सकेंगे?”

“नहीं, तुम्हें पता है, मैं ऐसी इजाजत नहीं दे सकता।”

“तुम्हें अदालत का वक्त बर्बाद नहीं करना चाहिए।”

“लेकिन हुजूर। यह बात मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। मैं भूखा मर रहा हूँ, क्या आप मुझे अपना कोट-पतलून बेचने की इजाजत दे सकते हैं?” उसने अपने कोट के बटन खोलते हुए कहा, जिसके नीचे उसका नंगा सीना था--“मेरे पास और कुछ नहीं है...”

“तुम आवारा हालत में इधर-उधर नहीं घूम सकोगे। तुम्हें कानून से बाहर जाने की इजाजत नहीं दी जा सकती।”

“खैर, हुजूर, क्या मुझे रात को बाहर सोने की इजाजत दे सकेंगे और मुझे आवारागर्दी के जुर्म में न पकड़ा जाए।”

“सब सवालों का एक ही जवाब यह है कि तुम्हें इन सब कामों में से एक भी करने की इजाजत देने लायक ताकत मेरे पास नहीं है।”

“तब हुजूर, मैं क्या करूँ? मैं आपको सच्ची बात बता रहा हूँ कि मैं कानून के भीतर ही रहना चाहता हूँ। क्या मुझे कोई ऐसी सलाह दे सकते हैं कि मैं बिना कुछ खाये जिन्दा रह सकूँ।”

“काश, कि मैं तुम्हें ऐसी कोई सलाह दे सकता।”

“ठीक। हुजूर, अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या कानून की निगाह में मैं वाकई जिन्दा हूँ?”

“यह ऐसा सवाल है, जिसका जवाब

मैं नहीं दे सकता। सच बात तो यह है कि अगर तुम कानून तोड़ते हो तो जिन्दा हो, लेकिन मुझे विश्वास है कि तुम ऐसा नहीं करोगे। मुझे तुम्हारे लिए बहुत दुःख है। तुम उस सन्दूक में से एक शिलिंग ले सकते हो। अगला मुकदमा...”

वकील साहब रुक गये।

“हाँ”, उनके दोस्त ने एक पैग चढ़ाते हुए कहा-- “किस्सा बहुत दिलचस्प है, सचमुच उस जमाने में बड़ी अजीब हालत थी।”



चीन में औरतें नहीं होती

--इब्ने इंशा

एक पाकिस्तानी बुजुर्ग चीन तशरीफ ले गये। कई रोज वहाँ कूचा व बाजार में घूमते फिरे। वापसी के एक रोज पहले अपने दोस्त से पूछा क्यों जनाब, क्या चीन में औरतें नहीं होती?

इनके दोस्त ने कहा, खैर वाशिम। आप कैसी बातें कर रहे हैं? जरा अपने सवाल की माकूलियत पर गौर फरमाइए।

कहने लगे, बेशक, यह मैं जानता हूँ कि औरत के बगैर महफिल हसती की नमूद नहीं हो सकती। फिलहाल इनसान ढालने की मशीनें और कारखाने नहीं बने। लेकिन अगर औरतें हैं तो कहाँ हैं? क्या इनको परदे में रखा जाता है?

यह वाकया पेकिंग के पाकिस्तानी सफारतखाने में एक साहेब ने हमें सुनाया। मुमकिन है यह दास्ताँ हो जेबे दास्ताँ हो। लेकिन मकसद इनके कहने का यह था कि चीन में औरतों और मरदों के लिबास में कोई फर्क नहीं। वही बन्द गले की जैकेट, वही पतलून, एक-सा जूता, न सुर्खी, न लिपिस्टिक, न बुंदे, न झूमर, न गजरा, न साड़ी, न दोपट्टा, न पर्स। यह सब सच है। हम खुद जाते हुए अपने हैंडिक्राफ्ट शॉप से मोतियों का एक पर्स ले गये थे। ख्याल यह था कि कोई बेगम आदीबा मिलेगी या किसी आदीब की बेगम को नज़र कर देंगे तो खुश होंगी। लेकिन वहाँ के रंग-ढँग देखकर आखिर एक पाकिस्तानी खातून के हवाले कर आये। वहाँ तो कोई खातून सौदा सुलभ लेने को निकले तो ज्यादा से ज्यादा कपड़े का थैला साथ

होता है बस।

यह बात मुगालता है कि औरत और मर्द की पहचान नहीं हो सकती। हुस्न व रानाई वहाँ बहुत है। ऐसे-ऐसे चेहरे नजर आये कि बस। और फिर चेहरों का हुस्न सेहत और शादाबी से इबारत होता है कि किसी बनावटी मदद का मोहताज नहीं।

एक जगह कुछ ख्वातीन गाजा पोते, भड़कीले लिबास पहने नजर आयी तो तहफिक पर मालूम हुआ कि बेशक चीनी हैं लेकिन समुद्र पार की चीनी। सिंगापुर से सैर के लिए यहाँ आयी हुई हैं। किसी शख्स को लागर देखिए या किसी का पेट बढ़ा हुआ पाइए तो यह भेद खुलेगा कि यहाँ का बाशिन्दा नहीं। बाहर से आया हुआ है। सारे चीन में किसी मर्द या औरत को लागर न पाया। हस्पताल में बहुत कम मरीज होते हैं। वार्ड के वार्ड खाली पड़े रहते हैं, कोई बीमार हो तो आये।

औरतें दूसरे बहुत से मुल्कों में भी काम करती हैं लेकिन चीन की तरह नहीं। काम करने में मर्द और औरत का फर्क नहीं। औरतें भारी मशीने चलाती हैं। कारें और ट्रक चलाती हैं, दुकानें और कारखाने चलाती हैं। खेतों में हल चलाती हैं। सड़कें बनाती हैं और सबसे बड़ी बात यह कि बड़े-बड़े बोझ उठाती और खींचती हैं।

चीन की एक बात तो हमारी समझ में नहीं आयी वह यह है कि एक मर्द या औरत इतना बोझ कैसे खींच लेती हैं जिसके लिए हमारे यहाँ घोड़े की जरूरत हो। एक

रेड़ा लोहे की सलाखों या सुर्ख ईंटों या अनाज की बोरियों से लदा हुआ है और एक शख्स बड़े आराम से उसे खींचे या धकेले जा रहा है अगर इतना सामान हो जितना हमारे यहाँ ऊँट गाड़ी में आम तौर पर होता है तो एक मर्द या औरत उसे खींच रही होगी और एक या दो और मर्द या औरत उसकी मदद कर रहे होंगे। लेकिन हाँपते-काँपते नहीं। बड़े इत्मिनान और आराम के साथ, जैसे खाली चल रहे हों। मवेशी या बराबर के जानवर हमें खाल-खाल ही नजर आये। ज्यादा भारी कामों के लिए ट्रक या ट्रेक्टर हैं। लेकिन ज्यादातर बोझ उठाने का काम इनसान करते हैं। कभी-कभी साइकिल या साइकिल गाड़ियाँ भी इस्तेमाल होती हैं। कारखानों में काम करनेवालों में औरतों का तनासुब तीस-पैंतीस फीसद होता है, बल्कि ज्यादा।

हस्पतालों में तो कुछ मरीज होते भी हैं। अदालतें बिल्कुल ही खाली रहती हैं। कभी-कभी तो हफ्तों कोई केस नहीं होता। एक पाकिस्तानी दोस्त जो कानून से दिलचस्पी रखते हैं कोई अदालत देखना चाहते थे। पेकिंग की अदालत-ए-अलीया के चीफ जज ने कहा कि भइया हमारे यहाँ तो बहुत दिन से कोई केस नहीं लगा। हाँ फलाँ गाँव में एक मुकदमा है, वहाँ चलके देख लो। चीफ जज उनको लेकर वहाँ पहुँचे। मुकदमा तलाक का था। एक कारखाने के कारीगर ने अर्जी दी थी कि मेरी बीबी बदमिजाज है। हतछुट भी है, तकरार और मारपीट करती है। मेरी बुढ़िया माँ का ख्याल

नहीं करती। मैं इससे अलैहदी चाहता हूँ। वहाँ स्टाम्प वगैरह का रिवाज नहीं। सादा कागज पर लिखकर अर्जी दे दीजिए या पोस्ट कर दीजिए। दूसरे-तीसरे रोज अदालत बैठ जाएगी। और अमूमन एक ही दिन में फ़ैसला हो जाता है। वकील भी पार्ट-टाइम हैं। उनको फीस या मशाहिरा हुकूमत की तरफ से मिलता है और उनका काम मुद्दई या अलैह की बेजा पच करना नहीं बल्कि कानून की तशरीह करना होता है।

खैर, तो ये लोग इस गाँव में पहुँचे तो अदालत शुरू हो गयी थी। कोई अबा कुबा थी न ऊँची कुर्सी न जज का हथौड़ा। एक मेज के गिर्द जज भी बैठा था, साथ ही मुद्दई बैठा चाय पी रहा था और सिगरेट का धुआँ उड़ा रहा था। इसके अलावा दो आदमी उसके कारखाने की इंतेजामिया के भी मौजूद थे।

दूसरी तरफ उसकी बीबी और बीबी के कारखाने के दो आदमी। इन आदमियों ने दोनों के हक में शहादतें दीं कि मेहनती हैं। अलबत्ता बीबी के कारखानेवालों ने कहा कि यह बीबी मिजाज की तेज है। कभी-कभी गुस्से में आ जाती है।

बीबी ने इस इलजाम से तसलीम किया कि बेशक मेरा मिजाज बिगड़ा रहता है लेकिन मेरा मियाँ शाम को देर से घर आता है। ड्रामा देखने चला जाता है या अपने दोस्तों के साथ वक्त गुजारता है। इसकी माँ का खयाल बेशक मैंने नहीं किया। क्योंकि मेरी माँ बचपन में इंतकाल कर गयी थीं। मुझे मालूम ही नहीं, माँ क्या होती है। अब अलबत्ता मुझे अहसास हुआ है कि मैं गलती पर हूँ। मर्द ने भी कहा कि मैं जल्दी घर आ जाया करूँगा। वहीं बैठे-बैठे राजीनामा हो गया। जज ने कहा, मैं कभी-कभी तुम्हारे घर आकर देखा करूँगा कि तुम लोगों का एक-दूसरे से कैसा सलूक है। मालूम हुआ अस्सी नब्बे फीसद सूरतों में फ़ैसला राजीनामों की सूरत में होता है। हमारे यहाँ ऐसा हो तो वकील और उनके दलाल, सररिश्तेदार और ऐहलकार, अर्जीनवीस और वसीका नवीस भूखे मरें और कल ही इम्प्लायमेंट एक्सचेंज के सामने कतार बाँध खड़े नजर आयें। ○

हम देखेंगे, लाजिम है कि हम भी देखेंगे...

-विक्की नन्दा

फैज की मशहूर नज्म कुछ ऐसे ही शुरू होती है। लेकिन फैज के अल्फाज में जो 'देखना' है वह हर दिन वाले देखने से अलग है। वह 'देखना' टी.वी. पर वीडियो या फिर मोबाइल में वाट्सअप देखने वाला देखना नहीं है। अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में हम बहुत सारी चीजें जैसे इनसान, वारदातें आदि देखते रहते हैं। मगर उस 'देखने' को क्या सच में 'देखना' कह सकते हैं? सिर्फ आँखों का खुला होना देखना नहीं होता, न ही आँखों का बन्द होना 'न देखना' होता है। आँखें हमारे शरीर का हिस्सा हैं पर कई बार ऐसा होता है कि हम अपने दिमाग और शरीर में एक अन्तर बना लेते हैं। हम ऐसे जीते हैं जैसे यह शरीर एक डिब्बा हो और उसमें हमारा दिमाग कोई बाहर की चीज हो और शरीर के पूछने पर वह सिर्फ नसीहत देने का काम करता हो। हम भूल जाते हैं कि हमें जब दर्द या खुशी होती है तो उसे महसूस करने की क्षमता केवल शरीर में नहीं है। यह दिमाग ही है जो हमें इस काबिल बनाता है। तो फिर ऐसा क्यों होता है कि हम अपनी आँखों को (जो कि शरीर का एक हिस्सा है) दिमाग से सम्पर्क ही नहीं करने देते। हम देखते तो हैं, पर जो देखा है उस पर सोचते नहीं और इसलिए जो देखा है उसे देखकर भी 'देखते' नहीं और ऐसे 'न-देखे' देखने की वजह से कब हम 'अंधेपन' के शिकार हो जाते हैं, हमें खुद पता नहीं चलता। हम जिन्दगी की राह चलते रहते हैं, वक्त ऐसे ही लड़खड़ाते बीत जाता है।

एक तरह से देखा जाये तो जिस दौर

में हम जी रहे हैं, वह एक नार्सिस्टिक दौर है और नार्सिस्टिज्म यानी आत्ममुग्धता सामूहिक रूप से पैदा की जा रही है। नार्सिस्टिज्म बहुत सुन्दर था और उसे इस बात का गर्व भी था। जब उसने अपनी परछाई पानी में देखी तो उसे खुद से ही प्यार हो गया। वह भूल गया कि जो वह देख रहा है, वह केवल एक प्रतिबिम्ब है यानी दिमाग से परायी आँखें। वह मरते दम तक यही प्रतिबिम्ब देखता रहा। उसका यह 'देखना' अंधा होने जैसा ही था। जिसमें किसी एक व्यक्ति या फिर समुदाय को खुद और खुद की अच्छाई के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता या फिर यह कहिए कि उसे अपनी हर चीज और काम में अच्छाई ही अच्छाई नजर आती है। यह नार्सिस्टिज्म वैयक्तिक स्तर पर हो तो शायद इतना फर्क न पड़े मगर जब यह सामूहिक स्तर पर होने लगे तो चिन्ता की बात है। आज ऐसा दौर है जिसमें एक ऐसी भीड़ है जिसे खुद से परे 'देखने' की जरूरत महसूस नहीं होती और जो देखे उसे विरोधी कहा जाता है। फैज ने बड़ी आशा से कहा था 'हम देखेंगे'! मगर आलम यह है कि हम आज भी उस 'देखने' का इंतजार कर रहे हैं जो 'लाजिम' होगा, जिसमें सही मायनों में 'हम' समूह, देश, समुदाय सहित शामिल होंगे और जहाँ सोच और आँखों का मिलन होगा।

नोबेल पुरस्कृत, पुर्तगाली लेखक होसे सारामागो अपनी किताब 'ब्लाइंडनेस' (अंधापन, 1995) और 'सीइंग' (देखना, 2006) में इस 'देखने' और 'न देखने' का बेहद मार्मिक वर्णन करते हैं। इसके विश्लेषण

की तरफ जाने से पहले 'स्पोइलेर अलर्ट'— जो एक प्रथा मानी जाती है— कर देना उचित होगा। काफी प्रयास के बाद भी कहानी का महत्वपूर्ण हिस्सा कहीं मुझसे उदघाटित न हो जाय। हालाँकि आशा यही है की इससे आप इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए प्रेरित होंगे।

ब्लाईडनेस की कहानी एक शहर में फैली बीमारी की कहानी है। ऐसी बीमारी जिसमें हर इनसान अँधा हो जाता है। इस अंधेपन की खासियत यह है कि इसमें अँधेरा नहीं दिखता, बल्कि आँखों के सामने सफेदी छा जाती है। सब इसे 'सफेद अंधापन' कहते हैं। किताब की शुरुआत में ही एक आदमी अचानक से, ट्रैफिक सिग्नल पर, कार में ही अँधा हो जाता है, फिर उस आदमी की कार चुराने वाला चोर, उसका डॉक्टर, उसकी पत्नी और ऐसे ही क्लिनिक में मौजूद अन्य मरीज, सब एक के बाद एक अंधे होते चले जाते हैं, सिवाय डॉक्टर की पत्नी के। वह अंधी नहीं होती पर जिन्दा रहने के लिए अंधेपन का नाटक करती है। सरकार इन सब अंधे लोगों को एक पुराने पागलखाने में बन्द करके उन्हें सैन्य नियंत्रण में रखती है। धीरे-धीरे सारा शहर (सरकार सहित) अँधा हो जाता है। उपन्यास की कहानी बताती है कि कैसे इस अंधेपन के दौरान इन्सानियत अलहदा हो जाती है, कैसे सरकार को लोगों से ज्यादा सत्ता महत्वपूर्ण लगती है और इन सब के बीच जो एक इन्सान देख सकता है, वह कैसे कैसे तकलीफों से गुजरता है। (जितना कि मेरा आकलन है।)

सीइंग की कहानी शुरू होती है एक राजधानी में जहाँ चुनाव चल रहे हैं, मगर मतदाता वोट डालने ही नहीं जाते। फिर से चुनाव करवाये जाते हैं और इस बार लोग वोट डालने भी जाते हैं, मगर जब नतीजा आता है तो पता चलता है की 80 प्रतिशत से भी ज्यादा वोट ब्लैंक (नोटा) हैं। सरकार साम, दाम, दंड, भेद सब आजमा कर पता करना चाहती है कि इसके पीछे 'किस संगठन का' हाथ है। लेकिन यह पता

करने में असफल ही होती है क्योंकि ऐसा कुछ होता ही नहीं। यह लोगों का अपना निर्णय था। सरकार थककर लोगों को सबक सिखाने का फैसला करती है। दूसरे शहर को राजधानी में तब्दील कर दिया जाता है। इस शहर से पुलिस हटा दी जाती है, पूरी शासकीय व्यवस्था, सिवाय महानगर पालिका के, हटा दी जाती है और शहर को अपने हाल पर छोड़ दिया जाता है। सरकार उम्मीद करती है की शहर में दंगे होंगे, चोरियाँ होंगी, झगड़े होंगे। मगर ऐसा कुछ नहीं होता। महानगरपालिका के सफाई कर्मचारियों को हड़ताल करने के लिए उकसाया जाता है। लेकिन लोग खुद रास्ते साफ करने लगते हैं तो सफाई कामगार भी बिना वर्दी पहने ही उनकी सहायता करने लगते हैं। शहर में बम विस्फोट करवा कर दहशत फैलाने का प्रयास किया जाता है, लोगों को जवाब देने के लिए उकसाया जाता है पर लोग फिर भी शान्ति से रहते हैं। जिन लोगों ने वोट दिये उनको डराया जाता है कि अगर वे बाकी नोटा वोट देने वालों के साथ रहे तो उनकी जान को भी खतरा है। पर फिर भी सब साथ में मिल-जुलकर, बिना शासक/सरकार के शान्ति से रहते हैं। और इसी तरह कहानी आगे बढ़ती है। पाठकों को बाद में पता चलता है कि ये वही राष्ट्र और शहर हैं जहाँ चार साल पहले अंधेपन की बीमारी फैली थी। और फिर पिछली कहानी ब्लाईडनेस के किरदार धीरे-धीरे सामने आते हैं। इनमें डॉक्टर की पत्नी को, जो कि कभी अंधी नहीं हुई, संशय से देखा जाता है... (कहानी का अन्त किताब में ही पढ़ें तो ही अच्छा।)

यहाँ आकर हमें ब्लाईडनेस के सही मायने समझ आते हैं। एक सफेद 'अंधेपन' के बाद 'देखना' जरूरी है। और उस देखने की जैसी परिभाषा लेखक सारामागो बताते हैं, वह इस दौर में बेहद मार्मिक और अर्थपूर्ण है। बिना सवाल किये, बिना जाँचे-परखे, चीजों को स्वीकार करना और उनका समर्थन करना अंधापन ही तो है। सरकार जनता को या तो ऐसे ही अँधा

समझती है या फिर बना देना चाहती है। और जनता भी इस 'न देखने' की आदि होती चली जाती है। अतीत और वर्तमान के बीच अटूट रिश्ता होता है। उन्हें पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि वर्तमान अतीत का ही स्थानान्तरण होता है जो भविष्य में फिर से वर्तमान बन जाता है। हमें इस बात को समझना होगा और 'देखने' (जिसका मतलब नोटा वोट नहीं है) का निर्णय भी लेना होगा। जब एक समाज 'देखने' लगता है तो उसे राह दिखाने वाले स्वघोषित मार्गदर्शक की जरूरत नहीं पड़ती। फैंज इसी 'देखने' की बात करते हैं। 'देखना' एक सवाल है और ऐसे सवाल खुद अपने आप में जवाब तक पहुँचने की राह होते हैं, जरूरत है बस उस राह को 'देखने' की।

इस पर और ज्यादा टिप्पणी करना हमारे 'समझने' की कार्रवाई और काबिलियत पर संशय करने जैसा होगा। मैंने कहानियों का सारांश बताया, सन्दर्भ आप समझ ही गये होंगे। मुझे राजनीती की समझ कम है पर उसके परिणाम महसूस कर सकता हूँ। मैं जब ये लिख रहा हूँ तो ऐसी महफूज जगह बैठा हूँ जो किताबों से घिरी है। मगर क्या करूँ, इन किताबों को बड़ी आदत है सवाल खड़े करने की, 'देखने' की...



अगर हम पूरी तरह से मनुष्यों जैसा नहीं जी सकते, तो कम से कम अपनी क्षमता भर ऐसा करें कि पूरी तरह से जानवरों जैसा तो न जियें।

-होसे सारामागो,

ब्लाईडनेस

‘सिलिकॉन वैली’ में मई दिवस

-विक्रम प्रताप

मई दिवस के जुलुस में शामिल बेंगलुरु के एक सूचना तकनीक पेशेवर नौजवान की तख्ती पर लिखा था “1917 ने हमें राह दिखायी है”। इस जुलुस के अधिकांश नौजवान जोसेफ स्टालिन का फोटो लगी लाल टी शर्ट पहने हुए थे और उनके हाथों में लाल झंडे थे। ये कोई आम मजदूर नहीं थे, बल्कि वैश्वीकरण के बाद आये सूचना तकनीक उद्योग के ‘पेशेवर’ थे जिन्हें बिना कोई कारण बताये उनकी कम्पनियों ने नौकरी से निकाल दिया। इन्हें ‘व्हाइट कॉलर’ नौकरी करने वाले कहा जाता है। खुद को ‘मजदूर’ नहीं बल्कि ‘पेशेवर’ मानने वाले ये नौजवान आखिर बेंगलुरु, दिल्ली, पुणे और हैदराबाद जैसे सूचना तकनीक उद्योग के केन्द्रों में सड़क पर क्यों उतर आये और वह भी ऐसे “खतरनाक” नारों के साथ? क्या वे अचानक उस भयानक शब्द-- राजनीति-- को पसन्द करने लगे हैं जिससे दूर रहने की चेतावनी उन्हें घर, स्कूल, कॉलेज हर जगह दी जा चुकी है।

दुनिया की मशहूर सलाहकार संस्था ‘मैकिंसे एंड कम्पनी’ ने हाल ही में भारत के सूचना तकनीक उद्योगपतियों के संगठन नैसकॉम के सामने एक रिपोर्ट पेश की है जिसमें बताया गया है कि अगले 3-4 सालों में सूचना तकनीक क्षेत्र में तकनीकी प्रगति के चलते 50 फीसद लोग गैरजरूरी हो जाएँगे। इसको बेंगलुरु की एक संस्था ‘हेड हन्टर्स इंडिया’ ने सीधे शब्दों में समझाया है कि अगले 3 साल तक इस क्षेत्र में कम से कम 2 लाख कर्मचारियों को हर साल नौकरी से निकाला जाएगा। यह प्रक्रिया

शुरू भी हो चुकी है। पिछले साल भर में 2 लाख से ज्यादा लोगों को नौकरी से निकाला जा चुका है।

टीसीएस, विप्रो, इनफोसिस, टेक महिन्द्रा, कोगनीजेंट आदि कम्पनियाँ फिलहाल भारत के बी टेक, एम टेक, एम बी ए आदि डिग्री हासिल किये हुए करीब 37 लाख लोगों को रोजगार दे रही थी, अब ये उलटी दिशा में काम करना शुरू कर चुकी हैं। कम्पनियाँ हर रोज अपने कर्मचारियों को ‘पिंक स्लिप’ पकड़ा रही हैं, जिस पर लिखी तारीख का मतलब है इस दिन से हमारी कम्पनी को आपकी सेवा की जरूरत नहीं है। सीधे शब्दों में कहें तो सूचना तकनीक क्षेत्र में 18 लाख लोगों की छंटनी प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

प्रधानमंत्री मोदी ने लाल किले की प्राचीर से हर साल दो करोड़ लोगों को नौकरी देने का जो वादा किया था, यह है उसकी जमीनी हकीकत।

मीडिया में सूचना तकनीक क्षेत्र में छंटनी का मुख्य कारण कम्पनियों का घाटा बताया जा रहा है। यह सरासर झूठ है। इस क्षेत्र के आँकड़े बताते हैं कि सूचना तकनीक उद्योग कम्पनियों की सालाना औसत आय 8.47 फीसदी की दर से बढ़ रही है। वित्त वर्ष 2015 में इन कम्पनियों ने 32.2 अरब डॉलर की कमाई की थी जो 2016 में बढ़कर 143.4 अरब डॉलर हो गयी। दरअसल छंटनी का मुख्य कारण इस क्षेत्र में विकसित हुई नयी तकनीकें हैं। कम्पनियाँ अपना मुनाफा और ज्यादा बढ़ाने के लिए नयी तकनीक का इस्तेमाल कर अपने कर्मचारियों की संख्या घटा रही है। सूचना

तकनीक कर्मचारियों की यह लड़ाई सिर्फ उनके खिलाफ नहीं है जो उन्हें नौकरी से निकालने के बहाने ढूँढ़ते फिर रहे हैं, बल्कि उनके खिलाफ भी है जो आर्थिक वृद्धि दर, निवेश में वृद्धि आदि शब्दों का इस्तेमाल कर रोज मजदूरों तथा हर नागरिक के हितों पर हमला कर रहे हैं।

भारत में सूचना तकनीक उद्योग के विस्तार ने बेशक कुछ लोगों को मध्यम वर्ग में शामिल होने का मौका दिया, जिसकी उम्मीद पहले नहीं थी। लेकिन यह भी सच है कि इस क्षेत्र के उभार के साथ-साथ श्रम कानून, मजदूर आन्दोलन कमजोर होते गये हैं। इन कम्पनियों में नौकरी की पूर्वशर्त होती है कि आप कार्यस्थल में किसी भी तरह की राजनीतिक गतिविधि या प्रचार नहीं करेंगे। लाखों की संख्या में इंजीनियरिंग डिग्रीधारी नौजवान अपने बुनियादी अधिकार को कम्पनियों के पास गिरवी रखकर नौकरी कर रहे हैं।

सूचना तकनीक के क्षेत्र में ऐसा माहौल होने के कई कारण हैं। पहला, नवउदारवाद ने मजदूर आन्दोलन को तोड़ने के लिए नियुक्तियों का जो ढाँचा दिया उससे लड़ने की वैचारिक समझदारी और योजना परम्परागत मजदूर संगठनों के पास नहीं थी। दूसरा, पिछले दशकों में इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट पाठ्यक्रमों के इतने जोरदार प्रचार का मकसद मजदूरों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार करना था जो अपने अलावा दुनिया में किसी के बारे में न सोचे। तीसरा, इन पाठ्यक्रमों को स्थापित करने के दौरान शिक्षा आन्दोलन में इसको लेकर विभ्रान्तियाँ। चौथा, लाखों सरकारी और

निजी कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्रों के बीच राजनीतिक चेतना के प्रचार-प्रसार में छात्र संगठनों की निष्क्रियता।

नवउदारवाद ने अपनी जमीनी कार्रवाई शुरू करने से पहले मजदूर संगठनों और सरकारी कम्पनियों के खिलाफ लगातार दुष्प्रचार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सरकारी या निजी, किसी भी तरह की कम्पनी में अपनी मेहनत का सही दाम माँगने वाले संगठनों को कम्पनी और देश की अर्थव्यवस्था का दुश्मन ठहराया गया। संगठनों को सहायता देने वाले श्रम कानूनों को इस तरह बदला गया कि श्रम अधीक्षक खुद कम्पनियों के पक्ष में बोलने लगे। जनमानस में यह स्थापित किया गया कि अपने हक के लिए लड़ने वाले मजदूरों की राजनीति देश के लिए खतरा है। इसलिए हमें न तो इनकी राजनीति और न ही किसी और राजनीति में शामिल होना चाहिए। हालाँकि यह बात अपने आप में राजनीति ही है लेकिन नवउदारवाद के पक्ष की।

परम्परागत मजदूर संगठनों की लाख अच्छाइयों और उपलब्धियों के बावजूद यह सच है कि निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीति के तहत जिस तरह की अनोखी श्रम संरचना को लागू किया जा रहा था उसके सामने ये संगठन कमजोर साबित हुए। सूचना तकनीक उद्योग के मामले में यह बात किसी और क्षेत्र की तुलना में ज्यादा सही है। इस क्षेत्र से निकले नव-मध्यवर्ग को आज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संरचना के किस पायदान पर रखकर देखना चाहिए, यह समझने में परम्परागत मजदूर संगठनों ने गलतियाँ की हैं। जिसके चलते ये नवउदारवाद की दी हुई परिभाषा से भी संतुष्ट हो गये 'व्हाइट कॉलर' की नौकरी करने वाले मजदूर नहीं हैं, बल्कि मध्यम वर्ग के 'प्रोफेशनल' लोग हैं। लेकिन वही मजदूर संगठन सार्वजनिक कम्पनियों या बैंकों में कर्मचारियों के मजबूत संगठन बनाये हुए हैं। इसका मतलब वे असंगठित क्षेत्र की चुनौतियों को पहचानने में अक्षम रहे।

तकनीकी शिक्षा प्रतिष्ठानों को पहले

से ही राजनीति की आँच से दूर रखने का प्रयास भारत के शासकों ने किया। इसलिए आईआईटी, एनआईटी, आईआईएम आदि संस्थानों में न शिक्षक संघ हैं और न छात्र संघ। इनको न बनाने के पीछे मकसद था कि यहाँ से शिक्षित लोग गैर-राजनीतिक होंगे, इसलिए किसी राजनीतिक पार्टी के पक्षधर हुए बिना, 'देश' की भलाई के लिए बेहतर काम करेंगे।

इन विषयों के पाठ्यक्रमों को गौर से देखने पर पता चल जाता है कि इनका मकसद गैर-लोकतांत्रिक मूल्यों तथा अलगाववाद को बढ़ावा देते हैं। मैनेजमेंट में जिस टेलरवाद को इतनी मेहनत से पढ़ाया जाता है उसका मकसद है कि कैसे किसी कर्मचारी से ज्यादा से ज्यादा काम करवाया जाए। मशहूर गाड़ी निर्माता कम्पनी टोयोटा से पैदा 'काईजान' ने भी इसी सोच को आगे बढ़ाया है। जिन फैक्ट्रियों में इसको लागू किया गया वहाँ एक-एक मजदूर से हर मिनट में 57 सेकेंड काम लिया जाता है। लेकिन हमारे देश के शिक्षा आन्दोलन को इन बातों का अंदेश नहीं था, इसलिए उसने कभी इन पाठ्यक्रमों पर सवाल नहीं उठाया जो किसी छात्र को बेहतर नागरिक बनाने की बजाय उसे बेहतर गुलाम बनाते हैं।

आज के अलगावग्रस्त समाज में किसी के अन्दर संगठन भावना पैदा करना आसान काम नहीं है। लेकिन स्कूल-कॉलेजों, विश्वविद्यालयों के छात्रों को संगठित करने वाले छात्र संगठन हमेशा ही निजी और तकनीकी शिक्षा प्रतिष्ठानों में घुसने से बचते रहे। नतीजा यह कि सबसे बेहतर तकनीकी शिक्षा लेने वालों के बीच उन बातों पर कभी बहस ही नहीं होती जो पूरी अर्थव्यवस्था और हमारी निजी जिन्दगी को प्रभावित करती हैं। ज्यादातर इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट कॉलेजों में छात्र उन सब बुनियादी बातों पर बहस नहीं कर सकते जो आम डिग्री कॉलेजों में करना सम्भव है। यहाँ तक कि दाखिले के वक्त उनसे बाँड पर दस्तखत कराये जाते हैं कि वे कॉलेज

में किसी राजनीतिक गतिविधि या प्रचार में हिस्सेदारी नहीं करेंगे।

इस तरीके से तैयार हुए डिजिटल मजदूरों या 'पेशेवरों' का राजनीतिकरण उनके जीवन की सच्चाइयों ने किया है। हम उन सभी सूचना तकनीक मजदूरों का अभिनन्दन करते हैं जो आज 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मजदूर मोर्चा' (एनडीएलएफ) और 'फोरम ऑफ आईटी एम्प्लाइज' (एफआईटीई) जैसे संगठन बनाकर कम्पनियों द्वारा गैर-लोकतांत्रिक तरीके से की गयी छँटनी के खिलाफ लड़ रहे हैं। वक्त ने उन्हें समझा दिया है कि मीठे शब्दों के मायाजाल से निकलकर दुनिया को नंगी आँखों से देखना जरूरी है। इसलिए वे न सिर्फ मजदूर आन्दोलन को नये सिरे से आगे बढ़ा रहे हैं बल्कि बेंगलुरु, दिल्ली, पुणे, हैदराबाद जैसे शहरों में तकनीकी विषयों की शिक्षा हासिल कर रहे युवकों का परोक्ष रूप से राजनीतिकरण भी कर रहे हैं। आज वे आगे बढ़कर बाकी क्षेत्रों के मेहनतकशों को सन्देश दे रहे हैं कि 1917 की रूसी क्रान्ति से रोशनी लेकर काम किये बगैर इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था से मुक्ति सम्भव नहीं है। सूचना तकनीक मजदूर आज हम सभी को समझा रहे हैं कि हमें राजनीति को हथियार बनाकर उन तमाम कम्पनियों और उनकी चाटुकार राजनीतिक पार्टियों के खिलाफ लड़ना होगा जो इनसान द्वारा इनसान की लूट पर टिकी व्यवस्था की पैरोकार हैं।

मुन्नार के कॉफी बागानों, बेंगलुरु के कपड़ा उद्योग से लेकर सूचना तकनीक उद्योग, हर जगह से खबर आ रही है कि अपने हकों की रक्षा करने के लिए संगठित लड़ाई के अलावा कोई विकल्प नहीं है। इन सभी लड़ाइयों की दिशा एक ही है। एक ऐसे समाज का निर्माण जहाँ काम करने लायक कोई भी इनसान बेरोजगार न हो, जहाँ हर आदमी राजनीतिक चेतना से लैस एक नागरिक हो, न कि गुलाम।



बस एक बार नौकरी पक्की हो जाने दो!

--माइकल डी येट्स

मेरे एक फेसबुक मित्र स्टीवन सैलैटा ने हाल ही में उन अकादमिक विद्वानों पर एक पोस्ट लिखी थी जो स्थाई नियुक्ति के पीछे भागते हुए अपने आप को यह कहकर मूर्ख बना रहे हैं कि एक बार स्थाई नियुक्ति मिल जाए तो वे अपनी क्रान्तिकारी राह पर और मजबूती से चलने लगेंगे। स्टीवन के साथ उर्बाना-शैम्पेन के इलिनॉय विश्वविद्यालय ने जो बदसलूकी की उसको याद करें तो स्टीवन का लेख पढ़ने लायक है। मैं उनकी पोस्ट से सहमत हूँ और मैंने उसका एक लम्बा जवाब लिखा है, इस विषय पर मैंने जो कहा था उसे ज्यादा सटीक रूप से प्रस्तुत कर रहा हूँ।

कॉलेज, विश्वविद्यालय के बारे में समझने वाली पहली बात यह है कि वे भी कार्यस्थल ही हैं। और पूँजीवादी समाज में बाकि अन्य कार्यस्थलों की तरह यहाँ भी ऊँच-नीच का एक ढाँचा होता है, जहाँ सत्ता ऊपर से नीचे की ओर जाती है। संचालन समिति के सदस्यों से लेकर बड़े प्रशासनिक अधिकारी, स्थाई अध्यापक, स्थाई होने की प्रक्रिया में या बहुसंख्यक अस्थायी अध्यापक, प्रशासनिक कर्मचारी और बाबू, संरक्षक से लेकर कैंटीन के कर्मचारी तक। सबसे ऊँचे पदों पर आसीन लोगों का मुख्य उद्देश्य इस उपक्रम को नियंत्रण में रखना होता है ताकि उनकी सत्ता कायम रह सके, छात्रों से आने वाली फीस, अनुदान, अलग-अलग सरकारी स्तरों से आने वाला पैसा और सुविधाएँ बरकरार रहें जिससे कॉलेज या विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा लगातार बढ़ती रहे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके नीचे काम करने वाले लोग सत्तासीन लोगों को न तो चुनौती दें, न ही आगे कभी दे सकें।

इस कड़वी सच्चाई को छुपाने के लिए और सिर्फ इस कपोलकथा को बनाये रखने के लिए शिक्षा प्रतिष्ठान बहुत भारी रकम खर्च करेंगे कि उनका मुख्य लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि यही वे जगहें हैं जहाँ आलोचनात्मक शिक्षण और शिक्षकों के लिए शोध सर्वोपरि होता है। निश्चित रूप से कुछ आलोचनात्मक शिक्षण और शोध होता भी है, लेकिन ये दोनों ही नियंत्रण कायम करने के मुख्य उद्देश्य के अधीन हैं। कॉलेज और विश्वविद्यालय कोई तटस्थ संस्थान नहीं होते बल्कि पूँजीवादी समाज के पुनरुत्पादन का ही हिस्सा हैं और आखिरकार उनका ढाँचा यही सुनिश्चित करता है कि वे इसी मकसद से संचालित होते हैं। असल में हमारे सभी उच्चशिक्षा प्रतिष्ठान पूँजी संचय का एक महत्वपूर्ण स्थान बन

चुके हैं, जैसा डेविड नोबेल ने अपने लेख में दृढ़तापूर्वक दर्शाया है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इन जगहों में प्रतिरोध की कोई कार्रवाई नहीं होती। प्रतिरोध होता है, जैसा हमने 1960 तथा 1970 के दशक में देखा, जब बहुत सारे कॉलेज परिसर व्यापक सामाजिक प्रतिरोध की रंगभूमि बन गये थे और कॉलेज, विश्वविद्यालय प्रशासन कुछ समय के लिए रेडिकल विचारों और वामपंथी शिक्षकों के प्रति ज्यादा सहिष्णु भी हुए थे। शिक्षकों ने यूनियन बनाना शुरू किया, वे अक्सर कामयाब भी हुए, खासकर उन जगहों में जहाँ वे सरकारी कर्मचारी बन चुके थे और अभी पारित हुए राज्य सरकारी कर्मचारी श्रम कानून से सुरक्षित थे। आज सहायक शिक्षक, जो सभी कॉलेजों में ज्यादातर पढ़ाने का काम करते हैं, संगठित होने की बहादुराना कोशिश में लगे हुए हैं। इसके साथ ही सरोकार रखने वाले छात्र और कुछ शिक्षक तथा कर्मचारी उग्र नस्लवाद, यौन उत्पीड़न और ऐसी ही समस्याओं से निपटने के लिए कॉलेज, विश्वविद्यालयों पर दबाव बनाने के लिए साथ आये हैं।

जिन अप्रवासियों के पास जरूरी कागजात नहीं उनका समर्थन करना, कुछ शेयर धारकों का भंडाफोड़ करना और कुख्यात फासीवादियों तथा नस्लवादियों को बोलने का मंच न देने की कार्रवाईयों ट्रम्प के चुनाव जीतने के बाद से ही लगातार जारी हैं।

हालाँकि, हमारे कॉलेज और विश्वविद्यालयों में अतीत और वर्तमान में हुए प्रतिरोधों की व्यापकता और गहनता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना अक्लमंदी का काम नहीं होगा। अमरीका में उनका इतिहास हमें बताता है कि वे कभी भी अमूल परिवर्तन की उर्वर भूमि नहीं रहे। तस्वीर ठीक इसके उलट है। छात्र और शिक्षक संगठनों के विरोध, चाहे वे जितने भी बड़े पैमाने के रहे हों, कभी भी शासकीय नियंत्रण को खत्म करने में कामियाब नहीं हुए। अकादमिक दुनिया में लोकतंत्र और बराबरी लाना तो दूर की बात है।

यह हमें एक पक्की नौकरी लगने के बाद प्रोफेसरों के क्रान्तिकारी बनने के सवाल पर वापस ले आता है। यह एक अच्छा खयाल है। जिन अध्यापकों ने यह सोने का टिकट हासिल कर लिया है, असल में उन्हें जिन्दगी भर के लिए सुरक्षित रोजगार मिल गया है। किसी मजबूत कारण से ही उन्हें बर्खास्त किया जा सकता है, आमतौर पर इसका मतलब होता है उनका विशेष रूप से भयानक व्यवहार। लेकिन यहाँ तक कि यह भी उनको बर्खास्त

करने के लिए काफी नहीं होता है। वे अपना दिल खोलकर बोल सकते हैं और किसी के भी प्रति अप्रिय या शत्रुतापूर्ण हो सकते हैं, यहाँ तक कि कॉलेज के अध्यक्ष के प्रति भी। कैम्पस के अन्दर या बाहर विरोध आयोजित कर सकते हैं, अपनी कक्षा में जैसा भी वे चाहें पढ़ा सकते हैं और जिस विषय पर चाहें शोध कर सकते हैं। वे जनता के बुद्धिजीवी बन सकते हैं जो सरकार की कड़ी आलोचना करते हों, किसी भी तरह के भेदभाव की निन्दा करते हों और कम्युनिज्म तथा क्रान्ति का भी समर्थन करते हों। वे आमूल परिवर्तनवादियों को अपनी कक्षाओं में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित कर सकते हैं और परिसरों में सार्वजनिक व्याख्यान भी दे सकते हैं। ऐसी आजादी कुछ ही मजदूरों को मिलती है।

इसके बावजूद प्रोफेसर शायद ही कभी उस आजादी का प्रयोग करते हैं जो पक्की नौकरी उन्हें देती है। मैंने 40 साल से भी ज्यादा समय तक पढ़ाया है और मैं ऐसे बहुत से शिक्षकों को जानता हूँ जो अपनी नियुक्ति के वक्त क्रान्तिकारी उसूलों का खुला समर्थन करते थे। उन्होंने अपनी क्रान्तिकारिता को छिपाये रखने का फैसला लिया था और वादा किया था कि बस एक बार पक्की नौकरी के सुरक्षित दायरे में आते ही वे बंधन मुक्त हो जाएँगे। अपने अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि इन भूतपूर्व जुझारुओं में से किसी ने भी ऐसा नहीं किया। हम में से जो उपद्रवी तत्त्व थे उन्होंने ऐसे ही शुरुआत की थी, हम नौकरी में स्थाई हो जाने के बाद भी “अड़चने डालते रहे,” जैसा कि मेरे विभाग अध्यक्ष हम में से कुछ लोगों पर आरोप लगाते थे। वे जो कभी आजाद होने की उम्मीद में खामोश रहे और जिन्होंने ऊँच-नीच के इस पायदान को स्वीकार कर लिया उन्हें इस पदानुक्रम का अंदरूनी हिस्सा बनकर इसकी कीमत चुकानी पड़ी। उन्हें बच-बचाकर चलने की आदत हो गयी या यूँ कहें कि वे इसके अभ्यस्त हो गये थे। सत्ता के सामने सालों तक स्वैच्छिक समर्पण ने धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से उनके भीतर की जो कुछ भी क्रान्तिकारी अन्तः प्रेरणा कभी थी, उसे विकृत कर दिया और जब तक उनकी नौकरी पक्की हुई तब तक वे अन्दर से पूरी तरह तबाह हो चुके थे।

विख्यात मार्क्सवादी अर्थशास्त्री माइकल लेबोवित्ज़ ने जो महत्वपूर्ण बात मुझे सिखायी है वह यह कि श्रम प्रक्रिया के दो परिणाम होते हैं— सामानों और सेवाओं का निर्माण और इनसानों का उत्पादन। जिस तरह पूँजीवाद उन उत्पादों का उत्पादन करता है जिन्हें बेचकर मुनाफा कमाया जा सकता है तथा जो पूँजी संचय की निरन्तर प्रक्रिया को सुनिश्चित करते हैं, उसी तरह वह अपने खुद के पुनरुत्पादन की जरूरत के लिए मजदूरों को भी तैयार करता है। ऐसे मजदूर, जो असल में अपने खुद के ही शोषण में सक्रिय भागीदारी करेंगे। इंडियाना की सुबारू-इसुजु फेक्ट्री में अपने प्रतिभागी-पर्यवेक्षक अध्ययन में समाजशास्त्री लौरी ग्रहाम हमें बताती हैं कि सुपरवाइजर मजदूरों से खुद ही समय प्रबंधन करवाने में सफल हुए, जिसे फ्रेडरिक टेलर खुद नहीं कर सके थे।

यह बात विश्वविद्यालय परिसरों के लिए भी उतनी ही सही है जितनी की कारखानों, दफ्तरों और खुदरा व्यापार संस्थानों के लिए। प्रोफेसर अपमान के साथ भी अपने नियोजक (मालिक) की इस माँग को मान लेते हैं कि उन तकनीकों से लगातार उनका आंकलन होता रहे, जिसका अर्थ यह है कि छात्रों के प्रदर्शन और यहाँ तक कि आगे जिन्दगी में उनकी सफलता को भी इसके साथ जोड़ा जा सकता है कि कोई शिक्षक कक्षा में क्या करता है। जब कॉलेज प्रशासन अध्यापकों को कमर कसकर तैयार रहने को कहता है क्योंकि बेहतर दिन आ रहे हैं, तो यह स्थिति वास्तव में कारखानों से अलग नहीं है। भेड़ की तरह साल दर साल वे इसे मानते रहते हैं लेकिन वह अच्छा समय कभी नहीं आता। बस अध्यापकों की संख्या कम होती जाती है। ऐसे प्रोफेसर जो कहते हैं कि मेरी नौकरी पक्की होने तक रुक जाओ, उसके बाद मैं अपने क्रान्तिकारी दिल और जान को सक्रिय करूँगा, वे सरासर झूठ बोल रहे हैं। वह महान दिन शायद कभी आ भी जाये, लेकिन तब तक वे समझ चुके होते हैं कि सत्ता के खिलाफ लड़ना बुरी बात है। व्यवस्था के अन्दर रह कर काम करना ही बेहतर है, विनम्र रहो, कभी-कभार विरोध स्वरूप पत्र भी लिखो और झमेला करने वालों से दूर रहो जैसा आप देखते आ रहे हैं कि वे कितनी बड़ी आफत हैं। अच्छे मजदूर बनो और छात्रों को अपने नक्शेकदम पर चलना सिखाओ।

आमूल परिवर्तन तब शुरू होता है जब सबसे पहले हम खुद यह देखने के लिए वक्त निकालें कि हमारे कार्यस्थलों और हमारी बाकी जिन्दगी में आखिर हो क्या रहा है, और इसको समझें कि हम लगभग जो कुछ भी करते हैं उसके लिए हम उनके द्वारा नियंत्रित हैं जिनके पास सम्पत्ति और सत्ता है। एक बार हम यह समझ लें तो उसके बाद इसके अनुसार कार्रवाई न करना मुश्किल हो जाता है। यानी इस नियंत्रण का प्रतिरोध और जिस भी तरीके से हम एक ऐसा समाज बनाने में योगदान कर सकते हैं जिसमें किसी के पास भी दूसरों को दबाने के लिए अकूत सत्ता नहीं होगी क्योंकि हम अपना काम सामूहिक और सहभागी तरीके से करेंगे। अन्तरराष्ट्रीय औद्योगिक मजदूर संगठन के इस सिद्धान्त के अनुरूप अपने उसूलों को तैयार करने की हमेशा कोशिश करनी चाहिए कि “किसी एक को चोट लगी तो सब घायल हुए”, चाहे फिर हम किसी भी संस्थान में हो या किसी भी देश में। हम तब तक इंतजार नहीं करते रह सकते जब हमारी निजी जिन्दगी और अधिक सुरक्षित नहीं हो जाती। आज पहले कभी की तुलना में इसकी सम्भनाएँ बहुत कम हैं और आगे शायद कभी ऐसा हो ही न। अगर हम इंतजार करते रहे तो इस बात से हमें अचम्भित नहीं होना चाहिए कि हमने खुद को व्यवस्था की जरूरत के अनुरूप ढाल लिया है।

(काउन्टरपंच डॉट कॉम से साभार। अनुवाद : अमित इकबाल।)



खोखले बैंक और आर्थिक महाशक्ति का सपना

-अमित इकबाल

पिछले साल नवम्बर में हुई नोटबंदी के बाद पूर्व प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने इसे सरकारी “संगठित लूट” कहा था। उन्होंने यह भी बताया था कि यह हमारी अर्थव्यवस्था की गति को धीमी करेगी, वृद्धि दर कम से कम 2 फीसद कम होगी। अन्ततः केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के आँकड़ों से इस बात की पुष्टि हो गयी। सन 2015 में वृद्धि दर 7.6 फीसद थी, जो नोटबंदी के बाद 7.1 फीसद तक चली गयी। यह सालाना आँकड़े थे। तिमाही आँकड़ों के हिसाब से देखा जाये तो नोटबंदी के बाद दो तिमाहियों में वृद्धि दर तेजी से गिरी है। नोटबंदी से पहली दो तिमाहियों में 7.9 और 7.5 फीसद वृद्धि दर बाद की दो तिमाहियों में गिरकर क्रमशः 7 और 6.1 फीसद रही।

नोटबंदी के फैसले को सही ठहराने के लिए जिन तर्कों का सहारा लिया गया था, वे कितने खोखले और फर्जी थे इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि अब सारा जोर कैशलेस पर पहुँच गया है। (देश-विदेश पुस्तिका 10 में विस्तार से जानकारी दी गयी है) लेकिन फिर भी यह सवाल अपनी जगह कायम है कि नोटबंदी के पीछे असली कारण क्या थे? क्या नोटबंदी जैसी “संगठित लूट” की कार्रवाई करना भारतीय अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए बेहद जरूरी था? अगर जरूरी था तो यह आपात स्थिति पैदा कैसे हुई?

नोटबंदी से लेकर बैंकों का विलय, बैंक खाते में न्यूनतम रकम रखना, जनधन योजना जैसे कदम एक लम्बी आर्थिक कार्रवाई की ही कड़ियाँ हैं, जिन्हें इतिहास

से काटकर और अलग-अलग देखना गलत होगा। इसकी शुरुआत काफी पहले से हो गयी थी। इन्हें सिर्फ आज के सन्दर्भ में देखकर सरकारी जुमलेबाजी में फँसना लाजिमी है।

1991 में आर्थिक सुधार लाने के लिए एक तर्क यह भी दिया गया था कि सरकारी कम्पनियाँ अब मुनाफा नहीं दे रही हैं, सरकारी सेवाएँ भ्रष्टाचार का अखाड़ा बन चुकी हैं, इसलिए जरूरी है कि ज्यादा से ज्यादा क्षेत्रों को निजी हाथों में सौंप दिया जाये। इसे सही ठहराने के लिए दुनिया की सबसे बड़ी-बड़ी कम्पनियों के चापलूसों को नयी सरकारी नीतियों का वकील बनाया गया। नतीजन रोज टीवी, अखबार के जरिये हमें यह समझाया गया कि सरकारी कम्पनियों में मजदूरों को ज्यादा मजदूरी दी जाती है, इसलिए उन कम्पनियों के उत्पादों के दाम बहुत ज्यादा हैं और यही वजह है कि ये कम्पनियाँ मुनाफा नहीं दे सकती। इस बात का भी जोरदार प्रचार किया गया कि सरकारी सुविधा मिलने के चलते लोग निकम्मे हो जाते हैं, इसलिए लोक कल्याणकारी योजनाओं को बन्द कर देना ही बेहतर है।

देशभर की मेहनतकश जनता और प्रगतिशील मजदूर संगठनों ने इन नीतियों का जमकर विरोध किया, लेकिन वे इन नीतियों को रोकने में कामियाब नहीं हुए। आखिरकार इस बात का हवाला देकर कि बाजार में सब अपने स्वार्थ के लिए काम करते हैं, इसलिए प्रतियोगिता बढ़ेगी और सस्ती से सस्ती दर में कुशलतापूर्वक सामानों का उत्पादन और वितरण होगा, यानी प्रतियोगिता के चलते उत्पादन में लागत

कम होगी, जिसके चलते उत्पादों की कीमत भी घटेगी, यानी महँगाई का इलाज होगा, सारे सामाजिक उत्पादन और उसके वितरण को बाजार के हाथ सौंप दिया गया।

यह सही है कि आने वाले समय में प्रतियोगिता बढ़ी, जिसके कारण कई कम्पनियाँ डूब गयी, या किसी बड़ी कम्पनी में उनका विलय हो गया। जिन कम्पनियों का दिवाला निकला वे अकेले नहीं डूबी, साथ में बहुत लोगों को कंगाल कर गयी। अगर हम सरकारी दस्तावेज पढ़ने में थोड़ी दिलचस्पी लें तो पता चलेगा कि 1947 के बाद अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के लिए जरूरी संस्थाएँ हमारे देश में बनायी गयी थी और वे कुछ हद तक सफल भी थी। बेशक उनके मुनाफे की दर निजी कम्पनियों जैसी नहीं थी। सार्वजनिक कम्पनी खोलने का मकसद ही देश की जनता को सस्ती कीमत पर सुविधा पहुँचाना होता है न की ज्यादा मुनाफा कमाना।

एचएमटी, सेल, भेल, ओएनजीसी, हिन्दुस्तान फर्टिलाइजर, इस्को (इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी) जैसी सरकारी कम्पनियों के बावजूद देशी-विदेशी निजी कम्पनियों के लिए रास्ता तैयार किया गया। बैंकों को हर तरह के उत्पादों के लिए देशी-विदेशी उद्योगपतियों को औद्योगिक कर्ज देने में पहले जैसी आनाकानी न करने के लिए कहा गया। माँगते ही कर्ज देने के आदेश दिये गये और प्रतियोगिता को बढ़ावा दिया गया। इस प्रतियोगिता में बहुत से खिलाड़ी हारकर मैदान से बाहर हो गये और साथ ही बैंकों का कर्जा भी निगल गये। इसी के चलते बैंकों की गैर-निष्पादित

सम्पत्ति (एनपीए) तेजी से बढ़ी।

सन 1991 में कहा गया था कि सरकारी नियंत्रण के चलते निजी कम्पनियों मुनाफा कमाने में अक्षम हैं और इसीलिए न चुकाये गये कर्ज या गैर-निष्पादित सम्पत्ति (एनपीए) बढ़ी है। इसके लिए तमाम नियमों और सरकारी नियंत्रण को और अधिक ढीला करने का फैसला लिया गया। 1991 में गैर-निष्पादित सम्पत्ति बैंकों के कुल व्यवसाय की 12 फीसद हो गयी। 1997 तक आते-आते यह समस्या संकट में तब्दील हो गयी। अब तक एनपीए बढ़कर बैंकों के कुल व्यवसाय का 16 फीसदी हो चुका था।

सारणी 1 रिजर्व बैंक से उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर तैयार की गयी है। यह दिखाती है कि 1996-97 से लेकर 2006-07 तक न चुकाये गये कर्ज में लगातार गिरावट है और तब से 2008-09 तक यह स्थिर है। लेकिन 2009-10 से इसमें लगातार बढ़ोत्तरी दिखाई देती है। वित्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशित “आर्थिक सर्वेक्षण 2017” के अनुसार वित्त वर्ष 2016-17 में इसकी रकम बैंकों के कुल व्यवसाय के 10 फीसद तक बढ़ चुकी है।

संकट से उबरने के बहाने 1991 में आर्थिक सुधार की नीतियों को लागू किया गया। सुधार के नाम पर शिक्षा, स्वास्थ्य, राशन, बुजुर्ग और विधवा पेन्सन जैसी तमाम कल्याणकारी योजनाओं में ज्यादा से ज्यादा कटौती की शर्त पर मुद्रा कोष से कर्ज लिया गया था। दूसरी शर्त थी कि कटौती से बचे धन को निजी उद्योगपतियों को कारोबार खोलने के लिए दिया जाये। उसके लिए ब्याज दर भी कम की गयी, साथ ही साथ आयकर में भी कटौती की गयी।

इस नीति के परिणामों का अंदेशा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जनपक्षधर अर्थशास्त्री माइकल कलेस्कि के निबन्ध *पॉलिटिकल आस्पेक्ट्स ऑफ फुल एम्प्लॉयमेंट (1943)* में मिलता है—

“हालाँकि यह साबित किया जा सकता है कि निजी निवेश को बढ़ावा देना व्यापक बेरोजगारी को रोकने का पर्याप्त

तरीका नहीं है। ...ब्याज या आयकर की दर (या दोनों) मंदी के दौरान घटायी तो जाये लेकिन उछाल के दौर में बढ़ायी जाये। इस स्थिति में उछाल लम्बे समय के लिए स्थाई होगा, लेकिन यह दौर खत्म होते ही एक नयी मंदी की शुरुआत हो जाएगी : ब्याज दर या आयकर में एक बार कटौती, यकीनन पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में चक्रीय उतार-चढ़ाव लाने वाली ताकतों को मिटा नहीं सकती। नयी मंदी में भी आयकर या ब्याज दर घटाना जरूरी होगा— और यह सिलसिला चलता ही रहेगा। ऐसे में वह दिन दूर नहीं है जब ब्याज दर ऋणात्मक करनी पड़ेगी और आयकर की जगह पर आय सब्सिडी देनी पड़ेगी।...उद्योगपतियों की प्रतिक्रिया ऐसे में अनिश्चित हो जाती है। अगर गिरावट बहुत तेज है तो वे भविष्य के बारे में निराशावादी नजरिया ले सकते हैं, और ब्याज दर या आयकर में कटौती लम्बे समय तक निवेश के ऊपर बहुत कम असरदार या बेअसर रहेगी।”

फरवरी 2017 में अंग्रेजी अखबार ‘इकनोमिक टाइम्स’ में प्रकाशित रिजर्व बैंक और राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आँकड़ों के अनुसार आर्थिक सुधार के 25 साल बाद भी कुल आबादी में 1.5 फीसद लोग ही आयकर देने योग्य हैं। देश के 93 फीसद लोगों की सालाना आय 2.5 लाख रुपये से कम है इसलिए वे आयकर के दायरे में ही नहीं आते। इनमें 95 फीसद ग्रामीण परिवार और 90 फीसद शहरी परिवार शामिल हैं। वित्तीय-आर्थिक-कानूनी सलाहकार, डॉक्टर, वकील आदि पेशों के बहुत से लोग अपनी आय के हिसाब से बहुत कम टैक्स देते हैं। 0.1 फीसद लोगों की घोषित आय सालाना 1 करोड़ या उससे ज्यादा है। 6.6 फीसद लोगों की घोषित आय 10 लाख से 1 करोड़ के बीच है।

दूसरी ओर बाजार से कोई भी सामान, यहाँ तक कि एक माचिस खरीदने पर उसके उत्पादक कम्पनियों के हिस्से का टैक्स आम जनता की जेब से ही जाता है।

क्या अब भी यह समझना मुश्किल

है कि जब सरकार निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज दर कम करेगी और आयकर में कटौती करेगी तो वह किसके फायदे में होगा? माइकल कलेस्की के अन्देशों को इस आँकड़े से जोड़ कर देखा जाये तो भारत की सरकारों ने भी नब्बे के दशक के कर्ज संकट से निजात पाने के लिए यही राह अपनायी थी। तर्क यह था कि सुविधा कम होगी तो लोग खुद ब खुद कम मजदूरी पर काम करना शुरू करेंगे और इसके चलते उत्पादन लागत कम हो जायेगी। लेकिन इस तरीके ने एक नये संकट को पैदा किया। 1997 में बैंकों के सामने उदारीकरण के बाद पहली बार भारी मात्रा में कर्ज के डूबने का संकट पैदा हो गया।

वैश्विक स्तर पर हुए परिवर्तनों ने भी इस संकट को बढ़ाने में अपना योगदान दिया। एशियाई देशों में छाया आर्थिक संकट (1997), पोखरन में किये गये परमाणु विस्फोट (1998) और डॉट कॉम संकट (2001) के चलते संकट और गहरा हो गया। एशियाई देशों में निर्यात में कमी आयी और परमाणु विस्फोट के चलते भारत को अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक प्रतिबन्ध झेलना पड़ा। इन धक्कों ने भारत की आर्थिक गतिविधि को बहुत ज्यादा सीमित कर दिया। दूसरी तरफ डॉट कॉम बुलबुले के फटने से नवउदारवाद की आँधी में उड़ान भरने वाले सूचना तकनीक क्षेत्र की भी हवा निकल गयी। इस उद्योग में जिन कम्पनियों ने भारत में काम शुरू किया था वे भी कंगाल हो गयी।

उदारीकरण से पहले बड़े पैमाने के निवेश के लिए जिस पूँजी की जरूरत थी उसे ‘विकास वित्तीय निवेशक संस्थाओं’ (डीएफआई) जैसे आईडीबीआई, आईएफसीआई और आईसीआईसीआई (पहली दो सरकारी और तीसरा निजी) से लिया जाता था। लेकिन उदारीकरण के बाद निवेश की माँग को पूरा करने में ये सक्षम नहीं थे। इसलिए रोजमर्रे का कारोबार चलाने वाले वाणिज्यिक बैंकों, जिनका 1971 और 1980 में राष्ट्रीयकरण किया गया था, उनसे निवेशकों को लम्बे समय के लिए

बड़ी रकम उधार देने का प्रबन्धन किया गया। इस घटना में दो अन्तर्विरोध थे—पहला, सरकारी योजना को लागू करने के लिए सरकारी बैंकों को निजी निवेशकों के लिए वित्त का इन्तेजाम करने को मजबूर किया गया। दूसरा, वाणिज्यिक बैंक लोगों से कम समय के लिए पैसा उधार लेते हैं (चालू या जमा खाते में), लेकिन इस परिस्थिति में वे लम्बे समय के लिए उधार दे रहे थे। यह प्रबंधन ही अपने आप में संकट पैदा करने वाला था। यानी उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण को लेकर इतनी जुमलेबाजी के बावजूद वास्तव में निवेश के लिए वित्त सरकारी खजाने से ही उठेला जाता रहा। यहाँ सवाल पैदा होता है कि निजी कम्पनियों को मुनाफा देने के लिए प्रारम्भिक पूँजी जनता से क्यों बटोरी गयी है?

पूँजीवादी प्रतियोगिता की स्वाभाविक गति से नब्बे के दशक में पैदा हुए स्टार्ट आप ने कुछ कम्पनियों को आगे बढ़ाया और ज्यादातर को तबाह किया। सरकारी योजनाओं को पूरा करने के लिए निजी कम्पनियों को ठेके दिये गये, साथ ही साथ बिना ये परवाह किये कि बैंकों में पूँजी कहाँ से आयेगी बड़ी रकम के कर्ज भी दिये गये।

ये नीतियाँ कांग्रेस के शासन काल में लागू की गयी थीं। तत्कालीन वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह इसके संस्थापकों में से थे। पोखरन (दो) परीक्षण के वक्त सत्ता भाजपा के हाथ में थी। लेकिन आर्थिक नीति के मामले में दोनों ही पार्टियों की समझ एक है। इस संकट से बाहर आने के लिए भाजपा सरकार ने एक नये मंत्रालय की स्थापना की— विनिवेश मंत्रालय। इसकी कमान मशहूर पत्रकार और भाजपा सांसद अरुण शौरी के हाथों सौंपी गयी। बैंकों में पूँजी भरने के लिए सन 2004 तक इस मंत्रालय ने भारत ऐलुमिनियम (बालको), विदेश संचार निगम लिमिटेड (बीएसएनएल) जैसी मुनाफे में चलने वाली सरकारी कम्पनियों को कौड़ी के मोल निजी हाथों में बेच दिया। यानी घर की खुशहाली बढ़ाने के लिए

‘आर्थिक सुधार’ का नुस्खा यह निकाला गया कि घर को ही बेचकर खा जाओ।

औद्योगिक उत्पादन की दिशा

सन 2003 आते-आते जैसे-तैसे संकट कुछ दूर हुआ। अटल बिहारी वाजपेई की सरकार में संसदीय कार्य मंत्री स्वर्गीय प्रमोद महाजन का एक ही काम था, रिलायंस कम्पनी का प्रचार करना। ऐसा लगता था कि रिलायंस के जनसम्पर्क अधिकारी को ही मंत्री बना दिया गया है। यह वही समय था जब पेट्रोलियम क्षेत्र को बाजार के लिए खोला जा रहा था। निजी क्षेत्र की मात्र एक कम्पनी का हित साधने के लिए पेट्रोलियम और पेट्रो-उत्पाद में सरकार द्वारा कीमत नियंत्रण बंद कर दिया गया जिसके चलते रिलायंस के जरिये इस क्षेत्र में कुछ निवेश बढ़ा। दूसरी तरफ मुनाफे पर चलने वाली सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी भारत संचार निगम लिमिटेड (बीएसएनएल) को इजारेदार होने से रोकने के नाम पर दूरसंचार (टेलिकॉम) क्षेत्र को निजी कम्पनियों के हवाले कर दिया गया। स्याइस टेलिकॉम (आज एयरटेल), कमांड मोबाइल, हचिन्सन (आज वोडाफोन) आदि कम्पनियों ने इस मौके को अपने मुनाफे के लिए इस्तेमाल किया। इन कम्पनियों की मोबाइल फोन सेवा बेहतर बनाने की जिम्मेदारी बीएसएनएल को दी गयी। यानी सार्वजनिक कम्पनी केवल सेवा देकर मुनाफा कमाये और यह भी बढ़ने लगे तो उसको रोकने के लिए निजी कम्पनियों को न्योता दिया जाए, ऊपर से उन्हीं निजी कम्पनियों के लिए बुनियादी काम भी जनता के पैसे से चलने वाली कम्पनी बीएसएनएल करे।

इन नीतियों के परिणामस्वरूप 2003 से 2008 के दौरान निवेश बढ़ा और देश की सालाना आर्थिक वृद्धि दर 8-9 फीसद चलती रही। लेकिन इसको हासिल करने के लिए सरकारी बैंकों के ऊपर और दबाव डाला गया। बैंकों को कहा गया कि पिछले ‘लाइसेंस राज’ की तरह कर्ज देने में वक्त जाया न किया जाये, वर्ना देश में पूँजी निवेश के माहौल पर बुरा असर पड़ेगा।

अब तक बैंकिंग क्षेत्र का काफी विस्तार हो चुका था। नवउदारवाद ने तोहफे में निजी बैंकिंग क्षेत्र को भी बढ़ाया। लेकिन अब भी सरकारी यानी सार्वजनिक बैंकों का हिस्सा निजी बैंकों कि तुलना में बहुत ज्यादा था।

1997 में आया संकट बेशक नये निवेश से कुछ हद तक टल गया लेकिन उसने बैंकों में लगातार पूँजी भरने की समस्या का कोई हल नहीं दिया। जिसके चलते 2003-08 तक बढ़ते निवेश के साथ ही बैंक के कोष भी खाली होते रहे और समस्या और भी विकराल रूप में सामने आ खड़ी हुई।

सन 2008 में वित्तीय संकट के चलते विश्व अर्थव्यवस्था आँधे मुँह गिर गयी। भारत इससे किसी तरह बच गया। अमरीका और यूरोप की तरह तबाह नहीं हुआ। लेकिन पिछले पाँच सालों में अर्थव्यवस्था में आये उभार में रुकावट आ गयी। यहाँ की अर्थव्यवस्था सार्वजनिक बैंकों के हाथ में थी। शेयरों की खरीद-फरोख्त पर सरकारी नियंत्रण था। जिसके चलते अमरीका का गृह ऋण बुलबुला यहाँ नहीं पहुँचा।

सन 2008 के वित्तीय संकट के दौरान तत्कालीन वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम ने एक बयान में कहा था कि “हमारे देश में वित्तीय संकट का असर न होने का कारण है कि यहाँ के बैंक अभी भी सार्वजनिक हैं और सरकार की कड़ी निगरानी में है।” लेकिन यह वही दौर था जब संकट को टालने के लिए पिछली सरकार की तरह ही ब्याज दर और आयकर में लगातार कटौती की जा रही थी।

लेकिन जब पूरी दुनिया में पूँजी निवेश नुकसानदेह साबित हो चुका था, तो लोग भारत में ही क्यों पूँजी निवेश करते? 2009 में यहाँ भी अर्थव्यवस्था की गति धीमी हो गयी। 2011 आते-आते बैंकों के हिसाब खाते में कर्ज डूबने का अनुपात उनके मुनाफे की तुलना में बहुत बढ़ गया, जो अब तक 7.65 लाख करोड़ रुपये तक पहुँच चुका है।

सन 2013 में ऑल इंडिया बैंक

एम्प्लाइज एसोसिएशन ने एक रिपोर्ट जारी की थी जिसमें उन्होंने तथ्यों के जरिये खुलासा किया था कि कैसे जनता की मेहनत की गाढ़ी कमाई अमीरों को खैरात में बाँटी जा रही है। रिपोर्ट में बताया गया था कि पिछले 13 सालों में (2001-2013) कम्पनियों का (यानी देशी-विदेशी पूँजीपतियों का) कुल 2,04,000 करोड़ रुपया माफ किया गया। इस रिपोर्ट के चलते संग्रह सरकार की बहुत फजीहत भी हुई।

मई 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में बनी भाजपा सरकार के सामने भी यह संकट कायम रहा। निवेशकों को प्रोत्साहित करने के लिए मोदी सरकार ने आते ही कड़े कदम उठाने शुरू किये। श्रम कानूनों को लचीला बनाया गया, देश दर देश की यात्रा की, भूमि अधिग्रहण कानून को पारित करने की कोशिश में तीन बार अध्यादेश लाया गया, जनधन योजना लायी गयी, कर्मचारी भविष्य निधि को शेयर बाजार में लगाने की पुरजोर कोशिश की गयी, नोटबंदी और कॉरपोरेट कर्जमाफी को लागू किया गया। इन तमाम हथकंडों के बावजूद समस्या जस की तस बनी रही।

नोटबंदी के एक हफ्ते में ही जब स्टेट बैंक ऑफ इंडिया को लगा कि उनके पास काफी पूँजी जमा हो चुकी है, तो बैंक ने ऐसी 63 कम्पनियों का 7016 करोड़ रुपये का कर्ज माफ किया (अंग्रेजी में 'राइट ऑफ') जो स्वेच्छा से कर्ज नहीं चुका रही थी।

इसे लेकर बहस शुरू हुई तो सरकार और स्टेट बैंक के आला अधिकारियों का कहना था 'राइट ऑफ' का मतलब कर्ज माफी नहीं है; इसका मतलब है उन सबसे कभी न कभी कर्ज जरूर वसूला जायेगा।

लेकिन जब किसानों का कर्ज माफ करने कि बारी आयी तो स्टेट बैंक की चेयरमैन अरुन्धती भट्टाचार्य ने कहा कि "किसानों को कर्ज माफ करने से कर्ज लेन-देन में गलत मिसाल कायम होगी इसलिए किसानों का कर्ज माफ करना सही नहीं होगा।"

यानी कम्पनियों का कर्ज इसलिए

विदेशी निवेश और निर्यात से आमदनी की हकीकत

उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के पीछे यह तर्क भी दिया गया था कि इससे विदेशी निवेश बढ़ेगा और हमारे देश की कम्पनियों को अपना सामान बेचने के लिए विदेशी बाजार मिलेगा। हकीकत यह है की 1995-96 से लेकर 2015-16 तक हमारे देश की जीडीपी में विदेश निवेश की हिस्सेदारी न के बराबर है। दुनिया में कम ही देश बचे हैं जहाँ वर्तमान प्रधानमंत्री निवेश प्रोत्साहित करने न गये हों। लेकिन आँकड़े बताते हैं कि उनकी इतनी मशक्कत के बावजूद विदेशी निवेश पर कोई फर्क नहीं पड़ा! ज्यादातर विदेशी निवेश, जो हर साल ढोल पीटते हुए यहाँ पहुँचता है वह पहले से चले आ रहे किसी कारखाने या अन्य उत्पादन में खप जाता है। नया निवेश और उसके चलते रोजगार में इजाफा नहीं हो रहा है।

वित्त वर्ष	जीडीपी में निर्यात का हिस्सा %	जीडीपी में आयात का हिस्सा %	जीडीपी में विदेशी निवेश का हिस्सा %
1991-92	6.8	7.9	1.5
1996-97	8.8	12.6	0.1
2001-02	9.4	11.8	0
2006-07	13.6	20.1	0.1
2011-12	17.0	27.4	0.1
2015-16	12.8	19.1	0.1

ऐसा भी नहीं कह सकते कि विदेशी निवेश के चलते देशी कम्पनियों को विदेशी बाजार उपलब्ध होता है और उसके चलते देश की आय बढ़ती है। उदारीकरण के बाद निर्यात की तुलना में आयात बढ़ा है। यानी राष्ट्रीय कोष में डॉलर से आमदनी की तुलना में ज्यादा डॉलर खर्चा करना पड़ा। यह सिलसिला पिछले 25 सालों से लगातार चलता आ रहा है। क्या इसके बावजूद हम कह सकते हैं की नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों ने हमारे देश की अर्थव्यवस्था को तेज रफ्तार दी है? तथ्य बताते हैं कि विश्वव्यापी वित्तीय संकट का साया जब से भारत के ऊपर स्पष्ट रूप से पड़ने लगा तो आयात-निर्यात में भी गिरावट शुरू हो गयी। ताजा खबर है की भारत ने दक्षिणी कोरिया से 9 अरब डॉलर का निर्यात कर्ज लिया है। यानी निर्यात करने के लिए उत्पादन में जितनी पूँजी की जरूरत है वह भी पहले ही कर्ज पर ली गयी है। इसी पूँजी के इस्तेमाल से जब उत्पादन होगा तो वह माल सिर्फ दक्षिणी कोरिया को ही बेचा जायेगा।

सारणी 1

वित्त वर्ष	एन पि ए (कुल व्यवसाय का प्रतिशत)
1996-97	17.8
1997-98	16
1998-99	15.9
1999-00	14
2000-01	12.4
2001-02	11.1
2002-03	9.4
2003-04	7.8
2004-05	5.5
2005-06	3.6
2006-07	2.7
2007-08	2.2
2008-09	2
2009-10	2.2
2010-11	2.4
2011-12	3.3
2012-13	3.6
2013-14	4.4
2014-15	5
2015-16	10
2016-17	12

वित्त वर्ष	औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर %
2005-06	8.62
2006-07	12.90
2007-08	15.54
2008-09	2.50
2009-10	5.29
2010-11	8.23
2011-12	2.89
2012-13	1.14
2013-14	-0.10
2014-15	2.81
2015-16	2.41

माफ किया जायेगा क्योंकि उनको छूट देने से जीडीपी में बढ़ोत्तरी होती है, चाहे उस बढ़ोत्तरी का कोई असर हमारी जिन्दगी में न हो। लेकिन किसानों का कर्ज माफ नहीं किया जायेगा, चाहे वे इसके चलते आत्महत्या करें या फसल का वाजिब दाम माँगते हुए गोली खायें।

बैंकों में पुनःपूँजीकरण का संकट

सरकारी गणना के अनुसार सन 2019 तक सार्वजनिक बैंकों में 1,80,000 करोड़ रुपये की अतिरिक्त पूँजी की जरूरत होगी। लेकिन सरकार की योजना सिर्फ 70,000 करोड़ भरने की है। बाकी पूँजी के लिए बैंकों के और भी शेयर बेचे जा सकते हैं। जून के पहले हफ्ते में ही स्टेट बैंक ने शेयर बेचकर 11 से 15 हजार करोड़ रुपये बाजार से उठाने की घोषणा की है। यानी सार्वजनिक बैंकों का और हिस्सा निजी हाथों में चला जायेगा और चूँकी यह कारवाई बैंक को बचाने के नाम की जा रही है, किसी को आपत्ति भी नहीं होगी। नब्बे के दशक का बैंकों के निजीकरण का सपना इसी तरह साकार होगा।

1991 से ही देश जिस आर्थिक नीति पर चलता आ रहा था उसने बैंकों में पुनःपूँजीकरण का संकट पैदा किया। किसी भी देश में निवेश करने वाले लोग कहीं और से बक्सा भरकर पैसा नहीं लाते हैं। यहाँ के बैंकों से ही उधार लेते हैं। इसलिए बैंकों के पास इस कार्रवाई के लिए हमेशा पर्याप्त पूँजी रहना जरूरी है। एक तरफ तो लगातार कम ब्याज पर निवेश कर्ज के चलते बैंकों का कोष खाली होता गया, दूसरी तरफ कर्ज वसूलने की प्रक्रिया भी बेहद धीमी या निष्प्रभावी रही। नतीजतन बैंकों का कोष लगातार घट रहा है। उदारीकरण के बाद यह जाँचने के लिए कि सार्वजनिक बैंक चलाना अब फायदेमंद रहेगा या नहीं, एक के बाद एक कई आयोग (नरसिम्हन आयोग I और II) बनाये गये। लेकिन बाजार में जिस संस्था की हिस्सेदारी सबसे ज्यादा हो उसको अचानक निजी हाथों में सौंप देने का तर्क ढूँढना आसान नहीं है।

उदारीकरण के समय भी बाजार में सार्वजनिक बैंकों की हिस्सेदारी 90 फीसद थी। पिछले 25 सालों में नये निजी बैंक पैदा होने से बाजार में सर्वजनिक बैंकों की हिस्सेदारी कम हुई है। लेकिन बाजार का आकार बढ़ जाने के चलते अब भी निजी बैंक सार्वजनिक बैंकों कि तुलना में बहुत पीछे हैं। सार्वजनिक बैंकों की हिस्सेदारी पहले की अपेक्षा बेशक कम होते हुए भी सबसे ज्यादा- 70 फीसद है। इसलिए आज भी कम्पनी खोलने के लिए या कारोबार बढ़ाने में कर्ज के लिए लोग सार्वजनिक बैंक के पास ही जाते हैं। लेकिन जनता से कम अवधि का कर्ज लेकर चलने वाले बैंकों में जब ज्यादा अवधि के लिए दिया गया कर्ज भी वापस न आये तो उनके सामने पुनःपूँजीकरण का संकट पैदा होना तय है। यही हाल है भारत के सार्वजनिक बैंकों का। हालाँकि इन सभी बैंकों का शेयर बहुत लोगों को बेचा जा चुका है। लेकिन ज्यादातर मालिकाना अभी भी सरकार के पास रहने के चलते इनको अभी भी सार्वजनिक में ही शुमार किया जाएगा। बैंकों में लगी सार्वजनिक पूँजी अगर डूब जाये तो उसकी भरपाई करने के लिए निजी शेयर धारकों को चिंता करने की कोई जरूरत नहीं। इसके लिए करोड़ों लोगों को लाइन में लगा कर उनका पैसा बैंक में जमा करा लिया जाएगा और निकालने पर पाबंदी लगा दी जायेगी। पिछले साल नोटबन्दी में यही हुआ।

दुनिया के जाने माने कर्ज मूल्यांकन संस्थान मूडी'ज इन्वेस्टर्स सर्विसेज का भारत के सार्वजनिक बैंकों के बारे में कहना है--

1. सार्वजनिक बैंकों को अपनी पूँजी को सन्तुलित करने के लिए अगले दो साल में 95 हजार करोड़ रुपये की जरूरत है (नोटबन्दी के जरिये इतनी रकम इकट्ठा करने के बावजूद)। यह आँकड़ा सरकारी आँकड़े से भी 20 हजार करोड़ रुपये ज्यादा की माँग करता है।

2. वित्त वर्ष 2017 में एनपीए 7 लाख 65 हजार करोड़ रुपया है जो वित्त वर्ष 2018 में बढ़कर 8 लाख 50 हजार करोड़

तक पहुँच जायेगा। यानी बैंकों के कुल व्यवसाय का करीब 10 फीसद ऐसा कर्ज है जिससे न ब्याज आ रहा है और न मूलधन।

3. संस्था को उम्मीद नहीं है कि अगले दो सालों में भौतिक स्थिति में कोई ऐसा बदलाव आयेगा जिसके चलते सार्वजनिक बैंकों के मुनाफे में इजाफा हो सके।

4. मार्च 2017 के आँकड़ों के अनुसार सार्वजनिक बैंकों के कुल व्यवसाय की 16-17 फीसद सम्पत्ति डूबने के कगार पर है।

मूडीज के ये आँकड़े निश्चित रूप से निवेश के लिए माकूल हालत की तस्वीर नहीं बयान करते। रिजर्व बैंक के आँकड़े और लेख भी भारत के सार्वजनिक बैंकों की बदहाली का खुलासा करते हैं। इसलिए नोटबन्दी, स्टार्ट आप इंडिया, कालाधन, जनधन योजना के जुमलों में फँसे बिना इस प्रक्रिया को हमें भारतीय शासकों द्वारा साम्राज्यवादी देशों की नीतियों को लागू करने की प्रक्रिया के क्रमबद्ध परिणाम के रूप में देखने की जरूरत है। इसी तरह कभी कांग्रेस और कभी भाजपा के हाथों हमारी सारी सार्वजनिक संस्थाओं का निजीकरण होता जाएगा। फर्क सिर्फ इतना ही है कि कांग्रेस की रफ्तार थोड़ी धीमी थी, भाजपा की रफ्तार बहुत तेज है।

उपर दिये गये तथ्यों की रौशनी में साफ है कि एसबीआई के 6 सहयोगी सार्वजनिक बैंकों का विलय इसी नीति के तहत किया गया। महानगरों, शहरों, कस्बों और गाँवों के खाताधारकों के लिए अपने खाते में न्यूनतम रकम रखने की शर्त और डेबिट कार्ड के ज्यादा इस्तेमाल के लिए ज्यादा पैसा क्यों काटा जा रहा है। बैंक तय कर रहे हैं कि आपका मेहनत से कमाया हुआ धन आप कब, कैसे और कितना खर्च करेंगे! इसे सरकारी डकैती नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे?

दुनिया का इतिहास उठाकर देखें तो पता चलता है कि भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों का विकास उस रफ्तार और राह पर नहीं हो सकता जिस पर यूरोप, अमरीका,

जापान आदि देशों का हुआ। ये देश पिछले दो सौ सालों में किसी न किसी देश, महाद्वीप, उपमहाद्वीप आदि को लूटकर ही महाशक्ति बने हैं। लेकिन हमारे देश के रहनुमा खाली जेब लेकर आर्थिक महाशक्ति बनने का झूठा खाब देख रहे हैं। कम से कम हमे इस रोग से बचकर सबके सामने अर्थव्यवस्था के खोखलेपन को उजागर करना चाहिए और यह भी बताना चाहिए इसके लिए जिम्मेदार आज के सत्तापक्ष और विपक्ष की राजनितिक पार्टियाँ तथा देशी-विदेशी पूँजीपतियों का गठजोड़ है।

पृष्ठ 63 का शेष...

सकते हैं। बुद्धिजीवियों और सर्वहारा के जिन तीन रूपों के बीच काम किया जाना जरूरी है, वो हैं-- सक्रिय मजदूर और निचले दर्जे के सरकारी कर्मचारी; पिछले तीन दशकों में उद्योगों की अंधाधुंध कमी का सबसे बुरा असर झेल रहे और नैतिक रूप से टूट चुके मजदूर परिवार; और अप्रीका, मध्य-पूर्वी और एशियाई मूल के घुमन्तु सर्वहारा।

चुनावी नतीजों के बारे में जज्बाती होते हुए अवसाद में डूब जाना या शोर मचाना न सिर्फ बेकार है बल्कि नुकसानदेह भी है। यह एक दुश्मन इलाके में जाकर मोर्चा लेने जैसी बात है, जिसका कोई फायदा नहीं है और न ही जिससे कोई हल निकलने वाला है। हमें जरूरी तौर पर चुनावों से बेपरवाह होना होगा, जो अधिक से अधिक, शुद्ध रूप से एक रणनीतिक चुनाव होते हैं, कि इस "लोकतांत्रिक" किस्से में हिस्सा लेने से बचा जाए, या फिर अपने माफिक एक खास हालात पैदा करने के नजरिये से इस या उस उम्मीदवार का समर्थन किया जाए। ये खास हालात भी हम कम्युनिस्ट राजनीति के ढाँचे के भीतर सटीक रूप से परिभाषित करते हैं, जिसका इस राजसत्ता की रस्मों से कोई रिश्ता नहीं होता। हमें अपना कीमती समय अपनी सच्ची राजनीतिक मेहनत में लगाना चाहिए। और यह काम ऊपर दिए गये चार बिन्दुओं के दायरे में ही होना चाहिए।

वन बैल्ट, वन रोड परियोजना अमरीका पर निर्णायक बढ़त लेने की चीनी कोशिश

--प्रवीण कुमार

आज जब नवउदारवादी वैश्वीकरण के अगुआ इससे दूरी बना रहे हैं, ट्रम्प प्रशासन 'अमरीकी फर्स्ट' की नीति पर अमल कर रहा है यूरोजोन में तरह-तरह की दरारें आ रही हैं तो खाली जगह को भरने के लिए चीनी साम्राज्यवाद मैदान में आ डटा है। 14-15 मई को बीजिंग में चीन की अगुवाई में अतिविशाल और अति महत्वकांक्षी परियोजना "वन बैल्ट, वन रोड" का औपचारिक श्रीगणेश हुआ। इसके उद्घाटन में 29 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। काफी उहापोह के बाद भारत ने अन्तिम क्षणों में इस सभा में भाग लेने से इन्कार कर दिया। गौरतलब है कि अमरीका अभी तक इस परियोजना में शामिल नहीं है।

इस परियोजना को पूरी दुनिया में "मार्शल प्लान" की तरह देखा जा रहा है जिसके जरिये दूसरे विश्व युद्ध से तबाह यूरोप का पुनर्निर्माण करके अमरीका महाशक्ति बन गया था। हालाँकि यह परियोजना मार्शल प्लान से कहीं ज्यादा बड़ी है। आज की कीमत के हिसाब से अमरीका का मार्शल प्लान 130 अरब डॉलर का था, जबकि वन बैल्ट, वन रोड परियोजना का खर्च कम से कम 1000 अरब डॉलर आँका गया है। परियोजना को स्थानीय सरकारों के सहयोग, निजी क्षेत्र की भागीदारी और बहुपक्षीय वित्तदाताओं के सहयोग से पूरा किया जायेगा।

चीन की मंशा इस परियोजना को दुनिया का प्राथमिक व्यापारिक मार्ग बनाने की है। 2000 साल पुराने चीनी 'सिल्क रूट' की तरह ही इस परियोजना के आर्थिक

गलियारे चीनी साम्राज्य को पूरी दुनिया से जोड़ देंगे। यह चीन को पूँजीवादी विश्व का सरताज बनने की ओर ले तो जाएगा ही, साथ ही साथ पश्चिमी यूरोप और रूस के साम्राज्यों को भी विस्तार का और ज्यादा मौका देगा।

चीन का कहना है कि यह परियोजना वैश्विक अर्थव्यवस्था को पुनः सन्तुलित करेगी। 'से' के नियम के अनुसार आपूर्ति को बढ़ाकर नयी माँग पैदा करेगी, जिससे वैश्वीकरण में लोगों की आस्था फिर से बहाल होगी। इन सुन्दर शब्दों का अर्थ है-- तकनीक व पूँजी से लैस राष्ट्रों और कम्पनियों को तकनीक व पूँजी के मामले में पिछड़े राष्ट्रों के संसाधनों, बाजार और सस्ते श्रम को निचोड़ने के पहले से ज्यादा अवसर हासिल होंगे। मुनाफे के बटवारे में चीन की केन्द्रिय भूमिका होगी। वैश्वीकरण की यह नयी लहर जहाँ एक ओर पिछड़े राष्ट्रों की जनता को और ज्यादा कंगाली की ओर धकेलेगी, वहीं दूसरी ओर इन राष्ट्रों की कम्पनियों और सरकारों के साथ विकसित राष्ट्रों की कम्पनियों और सरकारों के गठजोड़ को और ज्यादा मजबूत और गहरा करेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रों के अर्थिक संसाधनों और बाजारों पर कब्जा जमाने के साम्राज्यवादी हथकण्डे इस परियोजना के मूल में है।

वन बैल्ट, वन रोड परियोजना के मूलतः दो हिस्से हैं-- जमीनी और समुद्री। जमीनी हिस्से को सिल्क रोड इकोनॉमिक बैल्ट (एस आर ई वी) और समुद्री हिस्से को मैरीटाइम सिल्क रोड (एम एस आर) नाम दिया गया है। परियोजना के दोनों हिस्से 67 देशों और दुनिया की दो तिहाई आबादी

को आपस में जोड़ेंगे।

जमीनी मार्गों के तीन प्रमुख समूह प्रस्तावित हैं जिनमें पहला चीन को मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया से होकर यूनायटेड किंगडम से जोड़ता है। दूसरा चीन को मध्य एशिया, रूस से होकर जर्मनी से जोड़ता है और तीसरा चीन को दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों से जोड़ता है। जमीनी मार्ग में 6 प्रमुख "अन्तरराष्ट्रीय सहयोग आर्थिक गलियारे" बनाये जाएँगे न्यू यूरेशियन लैंड ब्रिज, चीन-मंगोलिया-रूस, चीन-मध्य एशिया-पश्चिमी एशिया, चीन-हिन्दचीन प्रायद्वीप, चीन-बंगलादेश-भारत-म्यांमार व चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा।

समुद्री मार्गों के दो समूह हैं। पहला दक्षिण चीन सागर, हिन्द महासागर, काला सागर और भूमध्य सागर से होकर चीन और यूरोप के बन्दरगाहों के बीच सम्पर्क कायम करेगा। दूसरा दक्षिण चीन सागर से होकर दक्षिण प्रशान्त महासागर के देशों को चीन से जोड़ेगा।

जमीनी और समुद्री मार्गों के अलावा इस परियोजना में इरान से चीन तक गैस पाइप लाइन और उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान व रूस से चीन तक तेल पाइप लाइनें बिछाना भी शामिल है। इनमें से कुछ पर पहले ही निर्माण काम शुरू हो चुका है। इसके साथ-साथ परियोजना से जुड़ने वाले देशों को इन्टरनेट के सुपरफास्ट ब्रॉड बैंड से जोड़ने के लिए "डिजिटल सिल्क रोड" और "सिल्क रोड इन स्पेस" भी प्रस्तावित हैं।

ओबीओआर पर चीन 2013 से काम कर रहा है। सबसे पहले उसने रूस से

सहयोग सुनिश्चित किया। रूसी नेतृत्व वाले 'यूरोशिया इकोनॉमिक यूनियन को 'शंघाई कॉर्पोरेशन आर्गनाइजेशन' के साथ मिलाया। यूईयू के सभी देशों को चीन के पश्चिमी प्रान्तों से जोड़ने के लिए 4000 किमी का रेलमार्ग और 1000 किमी का हाइवे निर्माणाधीन है। रूस और चीन के बीच दो ऊर्जा परियोजनाओं 'पावर ऑफ साइबेरिया' तेल पाइप लाइन और 'अल्टाई' गैस पाइप लाइन पर भी निर्माण कार्य चल रहा है। रूस के पास दुनिया का सबसे बड़ा तेल और प्राकृतिक गैस भंडार है और चीन के रूप में उसे काफी बड़ा और लगातार विस्तारित होता बाजार मिल गया है।

चीन के ढाँचागत विकास की रणनीतियाँ पूर्वी यूरोप और मध्य व पश्चिमी एशियाई देशों में निवेश को प्रोत्साहित करके उनकी अर्थव्यवस्था को गति देंगी, जो आज इन देशों की गम्भीर जरूरत है, क्योंकि इनमें से कई अर्थव्यवस्थाएँ तेल की घटी कीमतों और वैश्विक माँग में कमी की मार झेल रही हैं। यूरोजोन में धीमी पड़ रही माँग के चलते पूर्वी यूरोप के देशों के निर्यात के क्षेत्र भी ठहराव के शिकार हैं। इन देशों के रेलवे, सड़क और बन्दगाहों में होने वाले निवेश और इनके निर्यातों के लिए नये बाजारों तक आसान पहुँच कायम हो जाने से निश्चय ही इनकी अर्थव्यवस्थाओं को सहारा मिलेगा।

पश्चिमी यूरोप के देश और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी ओबीओआर से पैदा होने वाले मौकों के प्रति गम्भीर हैं। इससे निर्माण और लॉजिस्टिक के क्षेत्रों में काम करने वाली कम्पनियों को छोटी व मध्यम अवधि के लाभ हासिल होने और तकनीक, मशीनरी, उपभोक्ता सामग्री और पूँजी के निर्यात से दीर्घ अवधि के लाभ हासिल होने की भरपूर सम्भावना है। परियोजना में शामिल देशों में उदारीकरण की नीतियों के और ज्यादा गहराई तक पहुँचने और विविधिकरण की सम्भावना के चलते कम्पनियों को मुनाफे के ज्यादा आसार दिखाई दे रहे हैं, जो किसी भी

कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य होता है।

ओबीओआर के लिए एक महत्वपूर्ण उत्प्रेरक चीन की अर्थव्यवस्था में लगातार जारी गिरावट है। 2017 के लिए चीन को अपनी वृद्धि दर का लक्ष्य 0.5 फीसदी घटाकर 6.5 करने पर मजबूर होना पड़ा है। वैश्विक माँग में गिरावट लगातार जारी है और चीन के पास पूँजी का एक विशाल भण्डार मौजूद है। उसके उद्योग, मुख्यतः भारी उद्योग, क्षमता से कम उत्पादन करने को विवश हैं। इस परियोजना से चीन को उम्मीद है कि निवेश के जरिये उसकी पूँजी को अपना आकार बढ़ाने और उद्योग-धन्धों को अगली मंजिल में ले जाने का अवसर मिलेगा। खुद को "वैश्विक कारखाने" से "वैश्विक निर्माण शक्ति" में बदलने का चीन का सपना पूरा होगा और चीन एक निम्नस्तरीय माल निर्यातक देश से पूँजी और तकनीक के एक उच्चस्तरीय माल निर्यातक देश में बदल जायेगा। कुल मिलाकर आर्थिक साम्राज्यवादी देशों के पिरामिड में चीन खुद को अमरीका के समकक्ष या उससे भी ऊपर की स्थिति में पहुँचाने की कोशिश में है।

वैश्वीकरण का मॉडल तैयार करने और उसे जमीन पर उतारने का झण्डाबरदार रहा अमरीका आज नये राजनीतिक नेतृत्व में डंके की चोट पर संरक्षणवाद की नीतियाँ लागू कर रहा है। अमरीका पहले भी अनेक तरीकों से अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों में संरक्षण की नीतियाँ अपनाता था लेकिन खुलेआम उनकी वकालत नहीं करता था। पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा ने चीन से दो साल पहले 2011 में ही प्रशान्त महासागर के देशों का ट्रांस पैसेफिक पार्टनरशिप (टीपीपी) के नाम से एक व्यापारिक ब्लॉक बनाने की योजना बनायी थी। इसी के साथ-साथ उसने अफगानिस्तान को केन्द्र में रखकर आस-पास के देशों को जोड़ने वाली "न्यू सिल्क रोड" नाम की एक दूसरी परियोजना के लिए भी रणनीति बनायी गयी थी। अमरीका की आन्तरिक बाधाओं और कई बाह्य कारकों के चलते इन

परियोजनाओं पर विशेष प्रगति नहीं हो पायी। डोनाल्ड ट्रम्प ने तो सत्ता सम्भालते ही दोनों परियोजनाओं को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।

ओबीओआर के जरिये अमरीकी साम्राज्यवाद पर निर्णायक बढ़त हासिल करने की चीनी साम्राज्यवाद की कोशिश का रास्ता इतना आसान नहीं है। चीन की तुलना में अमरीका का कद आज भी बहुत बड़ा है। चीन के रास्ते की सबसे पहली बाधा पूँजी की है। चीन का पूँजी भण्डार बहुत बड़ा होने के बावजूद परियोजना की जरूरत के अनुपात में वह बहुत छोटा है। परियोजना से जुड़ने के लिए पूरी तरह तैयार देश भी पूँजी की उपलब्धता के हिसाब से गरीब हैं। अमरीकी प्रभाव के कारण वैश्विक वित्तीय संस्थाओं और निजी निवेशकों से पूँजी हासिल करना इतना आसान नहीं है। ढाँचागत परियोजनाओं के प्रति इन संस्थाओं और निवेशकों का रुख भी सकारात्मक नहीं है। दूसरी समस्या वे सैकड़ों द्विपक्षीय और बहुपक्षीय समझौते हैं जो परियोजना में शामिल देशों के बीच अभी होने हैं। इन देशों को अपनी प्राथमिकताओं और स्थानीय महत्वाकांक्षाओं को स्थगित करना पड़ेगा। निरन्तर बदल रहे वैश्विक परिदृश्य में ये देश चीन के साथ कितनी मजबूती से खड़े होंगे, यह अभी बहुत स्पष्ट नहीं है। गौरतलब है कि अमरीकी सरकार भी टीपीपी पर फिर से विचार कर रही है।

नवउदारवाद की विचारधारा का दिवालियापन आज दुनिया के सामने स्पष्ट है। आपूर्ति झोंककर माँग पैदा करने के 'से' के नियम की भी हवा निकल चुकी है। वैश्विक पूँजीवाद आज ऐसे संकट में फँसा है कि रोग को ही दवा के रूप में इस्तेमाल करने के लिए मजबूर है। वित्तीय पूँजी की परजीविता और एकाधिकार के दायरे में पूरी दुनिया को लाने के लिए लागू की गयी उदारीकरण की जिन नीतियों ने उसे इस संकट में फँसाया है उन्हें ही और ज्यादा गहन और विस्तारित करने की नीति ओबीओआर परियोजना का मूल आधार है।

परियोजना के अधिकारिक दस्तावेज में चीन ने कहा है कि वह अपनी अर्थव्यवस्था को उदारीकरण की मूल धारणा के अनुरूप पूरी तरह खोल देने और विश्व अर्थव्यवस्था से गहरे एकीकरण के लिए प्रतिबद्ध है। परियोजना के प्रारूप से भी स्पष्ट है कि चीन से उठ रही नवउदारवादी वैश्वीकरण की इस नयी लहर की साफ दिख रही विशिष्टताएँ वित्तिय पूँजी के चरित्र को और ज्यादा पोषित करेंगी। ये विशिष्टताएँ हैं— **1.** राष्ट्रों, निजी निवेशकों और वित्तिय संस्थाओं के बीच और ज्यादा गहरा एकीकरण, **2.** निवेश सरलीकरण के जरिये निजी निवेशकों को और ज्यादा संरक्षण, **3.** बेहद विस्तारित व्यापारिक उदारीकरण।

निरन्तर विस्तारित होना पूँजी का मूल चरित्र है और पूँजीवादी व्यवस्था में आस्था रखने वाले किसी राष्ट्र या व्यक्ति का चरित्र पूँजी के चरित्र के मातहत होता है। पूँजी को विस्तार देने के लिए नवउदारवाद से आगे की कोई नीति आज पूँजीवाद के पास नहीं है। ओबीओआर परियोजना उदारवाद के अनुकूल है। इसलिए तमाम बाधाओं के बावजूद इसके सफल होने की गुंजाइश भी है।

अपने विस्तार के लिए हर रोज नये टकरावों को जन्म देना भी पूँजी की विशेषता है। चीन ने अपने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को 10 साल में 2500 अरब डॉलर तक बढ़ाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इसके लिए जरूरी, विशाल साम्राज्य के निर्माण की कोशिश निश्चय ही न केवल साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच, बल्कि श्रम और पूँजी के बीच भी नये टकरावों और समीकरणों को जन्म देगी।

रामराज्य में घोटालों की रामकथा

कांग्रेस के शासन काल में भ्रष्टाचार इतना बढ़ चुका था कि उसे सत्ता से हाथ धोना पड़ा। 2014 में भ्रष्टाचार को जड़ से मिटाने के दावे और वादे के साथ मोदी जी प्रधानमंत्री बने। “न खाऊँगा, न खाने दूँगा” का उनका नारा बहुत लोकप्रिय हुआ। उन्होंने स्विस बैंक से काला धन वापस लाने का भी वादा किया था। लेकिन अब दूसरी तरह की खबरें भी आने लगी हैं। जिन कम्पनियों को आयकर, सीमा शुल्क जैसे विभागों ने फर्जी तरीके से शुल्क या कर में छूट लेने का नोटिस भेजा था वे अब भी अपने काम उसी फर्जी तरीके से कर रही हैं। यहाँ तक कि गैर कानूनी तरीके अपनाकर मुनाफा कमाने की उनकी दर बहुत बढ़ गयी है।

राजस्व खुफिया निदेशालय के अनुसार कोयले से बिजली बनाने वाली कम्पनियाँ इंडोनेशिया से कोयला आयात करने में कोयले का दाम ज्यादा दिखाकर बहुत बड़ी रकम अवैध रूप से देश के बाहर भेज रही हैं। इसके साथ ही ज्यादा लागत दिखा कर सीमा शुल्क में भी भारी छूट हासिल कर रही हैं। इन निजी कम्पनियों में अडानी समूह की 6, अनिल धीरूभाई समूह की 2, रुइया के एस्सार समूह की 2, जिन्दल समूह की 1, एनएसएल समूह की 4, एन श्रीनिवासन की 1 और उत्तम गालवा स्टील लिमिटेड

कम्पनियाँ शामिल हैं।

ये कम्पनियाँ इंडोनेशिया से निम्न गुणवत्ता का कोयला खरीदती हैं, जिसकी भारत पहुँचने पर कीमत 40 से 47 डॉलर प्रतिटन पड़ती है। लेकिन सरकार को सौंपे गये दस्तावेजों में कोयले की कीमत 82 डॉलर प्रतिटन दर्ज है। कोयले का दाम ज्यादा दिखाकर ये कम्पनियाँ अवैध रूप से भारी रकम विदेश भेजती हैं। जिसका इस्तेमाल दूसरे देशों में मुनाफा कमाने में करती हैं। दूसरी तरफ, लागत ज्यादा होने का बहाना बनाकर ये कम्पनियाँ शुल्क में भारी छूट हासिल करती हैं। इसका एक तीसरा पहलू भी है। लागत ज्यादा दिखाकर ये कम्पनियाँ बिजली उपभोक्ता से डेढ रुपये प्रति यूनिट ज्यादा वसूलती हैं। सीमा शुल्क विभाग के पास जमा किये गये कम्पनियों के दस्तावेजों की जाँच से पता चलता है कि इन कम्पनियों ने कोयले की कीमत 50 से 100 फीसदी तक ज्यादा दिखायी है।

जिस व्यवस्था की बुनियाद ही भ्रष्टाचार पर टिकी हो वह कभी भी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो सकती। अगर प्रचलित अखबारों और टीवी चैनलों पर अब भ्रष्टाचार की खबरें नहीं आ रही हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि भ्रष्टाचार नहीं हो रहा है। इसका अर्थ है कि प्रचलित मीडिया में भ्रष्टाचार करके खबरों को छिपाया जा रहा है।

अशोक विहार दिल्ली में स्थित बैंक ऑफ बडौदा की एक शाखा से 8000 से ज्यादा बार हॉगकॉग की एक कम्पनी को विदेशी मुद्रा में रकम भेजी गयी। कानूनन ऐसे लेनदेन की जानकारी बैंक द्वारा उच्च प्रशासन को देना जरूरी है। लेकिन इस मामले में ऐसा नहीं किया गया। 13 अक्टूबर, 2015 को सीबीआई ने बैंक के

एक असिस्टेंट जनरल मैनेजर और बैंक के विदेशी मुद्रा विभाग के प्रमुख को 6 हजार करोड़ रुपये गैर कानूनी रूप से बैंक में जमा करने के आरोप में गिरफ्तार किया लेकिन यह लेन-देन किनके बीच हुआ इसका खुलासा अभी तक सरकार ने नहीं किया है।

हम वोट डालें या राजनीति को फिर से गढ़ें ?

-आलें बादिऊ

दुनिया के जाने माने दार्शनिक, राजनीति और गणित के जानकार, उपन्यासकार और नाटककार आलें बादिऊ ने हाल में हुए फ्रांसीसी चुनावों के दौरान कुछ महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं, जिनमें उन्होंने फ्रांस के खास राजनीतिक सन्दर्भ में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों, पार्टियों और धाराओं पर बहस करते हुए मौजूदा दौर में पूरी दुनिया में दक्षिणपंथी रुझानों पर गौर किया है और ऐसे माहौल से आगे जाने और इनसानियत की मुक्ति के सवाल पर आगे की राह तलाशने की जरूरत पर जोर दिया है। इन लेखों में से हम दो लेखों को यहाँ पेश कर रहे हैं, जिनमें से मुख्यतः फ्रांस के स्थानीय चुनावी सन्दर्भ वाले अंशों को हटा दिया गया है। यहाँ पर दो भागों में पेश किये जा रहे इन लेखों के मूल फ्रांसीसी से अंग्रेजी अनुवाद क्रमशः “*वोट, ऑर री-इन्वेंट पॉलिटिक्स*” और “*लेट्स लूज इंटरैस्ट इन इलेक्शंस, वंस एंड फॉर ऑल!*” शीर्षक से वर्सा बुक्स के ब्लॉग पर पढ़ा जा सकता है। ये लेख भारत सहित दुनिया भर में मौजूदा राजनीतिक हालात की एक बेहतर समझ बनाने की दिशा में उपयोगी हैं, इस यकीन के साथ इन्हें यहाँ पेश किया जा रहा है। **अनुवाद एवं प्रस्तुति : रेयाज उल हक।**

1

पुरानी और जानी-पहचानी भूमिकाओं के इस रंगमंच पर, राजनीतिक प्रतिबद्धता का बहुत थोड़ा सा ही मोल है, या फिर यह सियासी पैतरेबाजी के लिए केवल एक बहाना भर है। इसलिए इस सवाल से शुरुआत करना बेहतर होगा कि राजनीति क्या है? और एक ज्ञात, घोषित राजनीति क्या है?

चार बुनियादी राजनीतिक नजरिये

कोई राजनीति हमेशा तीन तत्त्वों के आधार पर खुद को परिभाषित कर सकती है। इनमें से पहला है आम जनसमूह, साथ ही उसके काम और उसकी सोच। आइए, हम इसे “जनता” कहें। इसके बाद वे विभिन्न सामूहिक संगठन या समूह आते हैं, जो सामूहिक कार्रवाई करने के काबिल होते हैं जैसे एसोसिएशन, यूनियन, पार्टियाँ। आखिर में राजसत्ता के अंग आते हैं जैसे-- संसद, सरकार, सेना, पुलिस। आर्थिक और/या मीडिया सत्ता के हिस्से भी इसी के भीतर आते हैं (यह एक ऐसा फर्क है जो अब ऊपर से साफ दिखाई नहीं देता), या फिर हर वो चीज जिसे आज हम एक खूबसूरत और लोगों के दिलो-दिमाग पर छा जाने वाले तरीके से “फैसला लेने वाले लोग” कहा करते हैं।

राजनीति का निर्माण हमेशा ही इन तीन तत्त्वों के जरिए कोई मकसद हासिल करने से होता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि आधुनिक दुनिया में मोटे तौर पर चार बुनियादी राजनीतिक नजरिये पाये जाते हैं-- फासीवादी, रूढ़िवादी, सुधारवादी और साम्यवादी (कम्युनिज्म)।

रूढ़िवादी और सुधारवादी नजरिये से विकसित पूँजीवादी समाजों का मध्यमार्गी संसदीय धड़ा (ब्लॉक) बनाता है-- फ्रांस में

वामपंथ और दक्षिणपंथ, अमरीका में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट आदि। इन दोनों नजरियों में बुनियादी तौर पर जो बात एक सी है वह ये है कि ये दोनों ही दावा करते हैं कि उनके बीच टकराव है- खास तौर से इन तीनों तत्त्वों की अभिव्यक्ति के अर्थ में- इसके बावजूद इनमें से दोनों ही नजरिये संवैधानिक सीमाओं के भीतर रह सकते हैं और निश्चित रूप से रहते हैं।

बाकी के दोनों नजरियों, फासीवाद और कम्युनिज्म के बीच, मकसद को लेकर के हिंसक विरोध है। इसके बावजूद दोनों में जो बात एक सी है वो यह कि दोनों ही मानते हैं कि राजसत्ता के सवाल पर विभिन्न पार्टियों के बीच के टकराव में, सुलह-समझौता नामुमकिन है-- इसको किसी संवैधानिक सर्वसहमति का पाबंद नहीं बनाया जा सकता है। ये नजरिए विरोधी या यहाँ तक कि अपने से अलग किसी भी मकसद को समाज और राज्य की अपनी अवधारणाओं में शामिल करने से इन्कार करते हैं।

चहते फासीवाद-परस्त नजरिये

हम राजसत्ता के उस संगठन के लिए “संसदवाद” नाम का इस्तेमाल कर सकते हैं जो चुनावी मशीनरी, अपने दलों और उनके अनुयायियों के जरिए रूढ़िवादियों और सुधारवादियों के साझे वर्चस्व को सुनिश्चित करता है। यह वर्चस्व हर जगह राज सत्ता पर फासीवादियों या कम्युनिस्टों के दखल की किसी भी गम्भीर सम्भावना को खत्म करता है। हम जिसे “पश्चिम” कहते हैं, वहाँ पर यही राज्य का प्रभुत्वशाली रूप है। खुद इसके लिए एक तीसरे नाम की जरूरत है, जो इन दोनों मुख्य नजरियों के बीच आपसी तालमेल का एक साझा और ताकतवर आधार हो और जो इन दोनों

का अटूट अंग हो और इनके अलावा भी जिसका वजूद हो। यह साफ है कि हमारे समाजों में नवउदारवादी पूँजीवाद यही आधार है। कारोबार और निजी दौलत को बढ़ाते जाने की बेपनाह आजादी, निजी सम्पत्ति के लिए पूरा सम्मान (न्याय व्यवस्था और भारी पुलिस बंदोबस्त जिसकी गारंटी करते हैं), बैंकों में भरोसा, युवाओं की शिक्षा, “लोकतंत्र” की ओट में होड़ (प्रतिस्पर्धा), “कामयाबी” की भूख, बराबरी के नुकसानदेह और काल्पनिक चरित्र का बार-बार दावा करना—यह आम राय से कबूल की गयी “आजादियों” का एक साँचा (मैट्रिक्स) है। ये वे आजादियाँ हैं जिनकी हमेशा गारंटी करने के लिए दोनों तथाकथित “शासनकारी” पार्टियाँ कमोबेश प्रतिबद्ध हैं।

पूँजीवाद का होना, संसदीय आम सहमति के मूल्य में और इस तरह चुनावी रस्मों के दौरान “बड़ी” रूढ़िवादी या सुधारवादी पार्टियों द्वारा हासिल भरोसे में कुछ अनिश्चितताएँ ला सकता है। यह खास तौर से निम्न बुर्जुआ के लिए सच है, जिसकी सामाजिक हैसियत खतरे में होती है, या फिर मेहनतकश वर्ग के लिए, जो उद्योगों के धीरे-धीरे बंद होने से तबाह हो गये हैं। पश्चिम में हम यही देख रहे हैं, जहाँ एशियाई देशों की उभरती हुई ताकत के मुकाबले, हम एक तरह का पतन देख सकते हैं। आज का यह खास संकट साफ तौर पर फासीवादी, राष्ट्रवादी, धार्मिक, इस्लामविरोधी और युद्ध को पसन्द करने वाले नजरिये का समर्थन करता है, क्योंकि खौफ एक बहुत बुरा सलाहकार है और संकट में डूबे ये खास समाज पहचान पर आधारित मिथकों की गिरफ्त में जाने को बेकरार हैं। सबसे ज्यादा इसलिए कि कम्युनिस्ट परिकल्पना, मुख्यतः सोवियत संघ और चीन के जनवादी गणतंत्र के अपने पहले और राज्य आधारित संस्करणों की ऐतिहासिक नाकामियों की वजह से बहुत बुरी तरह कमजोर होकर सामने आयी है।

इस नाकामी के नतीजे खुद ब खुद जाहिर हैं— नौजवानों, वंचितों और बदहाल

लोगों, रोजगार से बेदखल मजदूरों और हमारे उपनगरों के घुमन्तु सर्वहारा का एक अच्छा खासा हिस्सा इस बात पर यकीन करने लगा है कि कड़वाहट भरी पहचानों (अस्मिताओं), नस्लवाद और राष्ट्रवाद की फासीवादी राजनीति ही हमारी संसदीय आम सहमति का एक मात्र विकल्प है।

साम्यवाद, इनसानियत की मुक्ति

हालात ने जो खतरनाक मोड़ लिया है, अगर हम उसके खिलाफ हैं तो हमारे सामने सिर्फ एक ही रास्ता है— हमें साम्यवाद को फिर से गढ़ना होगा, उसमें जरूरी बदलाव करके उसे फिर से पेश करना होगा। अब यह जरूरी हो गया है कि बहुत अपमानित हो चुके इस शब्द को हम फिर से उठाएँ, इसे साफ करें और फिर से इसकी रचना करें। यह इंसानियत की मुक्ति का हरकारा है, करीब दो सदियों से इसकी यही भूमिका रही है और ऐसा करते हुए इस महान नजरिये को सच्चाई का समर्थन हासिल होता रहा है। अभूतपूर्व कोशिशों के कुछ दशक (जो इसलिए हिंसक थे कि इस दौरान बेरहमी से इसकी घेरेबंदी की गयी और इस पर हमला किया गया जिसकी वजह से इसकी हार तय थी) मजबूत इरादों वाले लोगों को इस बात का कायल नहीं बना सकते कि इस सम्भावना को हमेशा के लिए दफन कर दिया जाना चाहिए। वे हमें इसके लिए मजबूर भी नहीं कर सकते कि हम इसको जमीन पर उतार लाने की जिम्मेदारियों को हमेशा के लिए छोड़ दें।

इसलिए, क्या तब हमें वोट डालना चाहिए? मूल रूप से राज्य और इसके संगठनों की ओर से आने वाली इस माँग से हमें कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिए। अब तक हमें यह मालूम हो जाना चाहिए कि वोट डालने का मतलब और कुछ नहीं बल्कि मौजूदा व्यवस्था के रूढ़िवादी नजरियों में से किसी एक को मजबूत करना है।

अगर हम इसके असली मतलब तक जाएँ तो वोट डालना जनता को राजनीति से दूर करने यानी उनको अराजनीतिक बनाने का एक उत्सव है। हमें निश्चय ही शुरुआत

यहाँ से करनी है कि हम हर जगह पर भविष्य के रूप में कम्युनिस्ट नजरिये को फिर से बाकायदा स्थापित करें। इस पर पक्का यकीन रखने वाले जुझारू लोगों को निश्चय ही दुनिया के सभी लोकप्रिय सन्दर्भों में, इसके उसूलों की चर्चा करनी चाहिए, जैसा कि माओ ने कहा था, हमें निश्चय ही पर “उलझन और भ्रम के बीच से जो कुछ भी हासिल है, उसे उसकी खासियत के साथ, जनता के सामने प्रस्तुत करना होगा।” और राजनीति को फिर से गढ़ने का मतलब यही तो है।

2

में चुनावों के पहले दौर के बाद अपन गुस्ता और नाराजगी जाहिर कर रहे लोगों, खासकर मेलेनकोनिवाद से नाउम्मीद हो चुके लोगों की कड़वाहट को समझता हूँ। इसके बावजूद, वे चाहे जो भी करें या कहें, इस चुनाव में कोई खास गैरमामूली बात या धांधली नहीं हुई थी।

असल में पार्टियों में दो अन्तर्विरोध रहे हैं, जिन्होंने अफसोसनाक ढंग से (वास्तव में मौजूद शक्तियों के लिए) केन्द्रीय संसदीय धड़े को बिखेर दिया। यह धड़ा परम्परागत वाम और दक्षिण से मिलकर बना था। चालीस बरसों से, बल्कि दो सदियों से, यह धड़ा स्थानीय पूँजीवाद के फलने-फूलने की हिमायत करता आ रहा है। इसके बावजूद तथाकथित वामपंथ के स्थानीय प्रतिनिधि ओलादे फिर से खड़े नहीं हुए और इससे उनकी पार्टी की कमर टूट गयी। दूसरी तरफ परम्परागत दक्षिणपंथ है। चुनावों की अपनी बदनसीब प्राथमिकताओं की बदौलत यह अपने बेहतरीन बूढ़े घोड़े आलें युप्पे को उम्मीदवार नहीं बना पाया, बल्कि मनहूस चेहरे वाली, एक संकीर्ण मना बुर्जुआ इसकी उम्मीदवार चुनी गयी, जो आधुनिक पूँजीवाद की “सामाजिक” पसंद से कोसों दूर है।

“सामान्य” दूसरा दौर (राउंड) ओलादे बनाम युप्पे का रहा होता, या फिर सबसे खराब हालात में भी मुकाबला ले पां बनाम युप्पे का रहा होता, और इन दोनों ही हालात में युप्पे आसानी से जीत जाते।

सरकार की दो जर्जर पार्टियों की गैरमौजूदगी में, दो सदियों से हमारे असली मालिक यानी पूँजी के मालिक और उसके प्रबंधकों को थोड़ी परेशानी उठानी पड़ी। किस्मत से (यानी अपनी किस्मत से), अपने रिवाजी राजनीतिक कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर, प्रतिक्रियावाद के पुराने दिग्गजों और सामाजिक जनवादियों के बचे-खुचे तत्वों (वॉल, ले ट्रिं, सेगोलें रॉयल एंड कम्पनी) की मदद से, उन्होंने दम तोड़ रहे लावारिस केन्द्रीय संसदीय धड़े की जगह लेने के लिए एक लायक चेहरा जुटा लिया। और वह चेहरा थे— इमानुएल मैक्रों। बहुत उपयोगी तरीके से और भविष्य को देखते हुए बहुत अहम तरीके से उन्होंने अपने मकसद के लिए फ्रांसुआ बेरो को भी इसमें लगा दिया, जो एक पुराने अनुभवी मध्यमार्गी संत हैं और सभी चुनावी जंगों और सबसे मुश्किल जंगों को भी देख चुके हैं। यह सारा कुछ बड़े ठाठ-बाट के साथ अंजाम दिया गया और इतनी फुर्ती से किया गया कि यह एक रेकॉर्ड ही है। इसके नतीजे में अन्तिम कामयाबी की तो खास गारंटी थी।

इन हालात में, जिनको समझाना पूरी तरह से मुमकिन है, वोट ने पहले की तुलना में कहीं अधिक साफ तौर पर इसकी तस्दीक कर दी है कि एक पूँजीवाद परस्त और दक्षिणपंथी नजरिया (जिसमें फासीवादी रूप भी शामिल है) इस मुल्क में प्रचंड बहुमत में है।

बुद्धिजीवियों और नौजवानों का एक हिस्सा इसे देखने से इन्कार कर रहा है या फिर इस पर कड़वाहट भरे तरीके से अफसोस जाहिर कर रहा है। लेकिन यह क्या है? क्या लोकतांत्रिक चुनावों के ये आशिक चाहते हैं कि कोई आये और इसे बदल दे कि लोग किसको वोट करें, जैसे आप अपनी गंदी कमीज बदलते हैं? जो लोग वोट डालते हैं, उन्हें हर हालत में बहुमत की मर्जी कबूल करनी होती है। सचमुच, नौजवानों और बुद्धिजीवियों के ये दो उपरोक्त समूह दुनिया को अपने हालात और अपने सपनों के पैमाने से ही मापते हैं, और किसी

ऐसे नतीजे पर नहीं पहुँचते जहाँ पहुँचना जरूरी है-- वह नतीजा यह है कि “लोकतांत्रिक” शब्द में उम्मीद करने लायक कुछ भी नहीं है।

1850 में नेपोलियन तृतीय ने देख लिया था कि वोट डालने का आम अधिकार (सार्वभौम मताधिकार) कोई खौफनाक चीज नहीं थी, जैसा कि रूढ़िवादी बुर्जुआ ने इसके बारे में कल्पना की थी, बल्कि यह सचमुच का एक वरदान था जो प्रतिक्रियावादी ताकतों के लिए एक अभूतपूर्व और अनमोल वैधता मुहैया कराता था। यह बात आज भी पूरी दुनिया में हर जगह सही है। नेपोलियन के वारिसों ने यह समझ लिया है कि कमोबेश सामान्य और स्थिर ऐतिहासिक हालात में, आबादी की बहुसंख्या हमेशा मूल रूप से रूढ़िवादी होती है।

इसलिए आइए, शान्त दिमाग से किसी नतीजे पर पहुँचने की कोशिश करते हैं। उन्माद में भरकर चुनावी नतीजों का अर्थ निकालना और कुछ नहीं बल्कि एक बेकार की हताशा है। आइए, इसकी आदत डाल लें : अगर चार कारकों को ऐतिहासिक रूप से एक साथ नहीं लाया गया तो हमारी मौजूदा गुलामी की हालत पर कभी भी निर्णायक चोट नहीं पहुँचायी जा सकती है। और ये बातें चुनावी रस्मों से उतनी ही दूर हैं, जितनी दूर उनसे कोई चीज हो सकती है।

1. ऐतिहासिक अस्थिरता की स्थिति, जिसने रूढ़िवादी जनमत पर हावी होकर उसे काबू में कर लिया है। अफसोस, कि यह स्थिति एक युद्ध में भी बदल सकती थी, जैसा 1871 में पेरिस कम्यून, 1917 में रूसी क्रान्ति या फिर 1937 और 1947 के बीच चीनी क्रान्ति के समय हुआ।

2. एक सख्ती से कायम किया गया विचारधारात्मक बटवारा विचारधारा के स्तर पर हमें यह बटवारा करना है कि रास्ता सिर्फ एक नहीं है, बल्कि हमारे सामने दो रास्ते हैं। स्वाभाविक रूप से इसे सबसे पहले बुद्धिजीवियों के बीच अंजाम देना होगा लेकिन अन्तिम तौर पर इसे खुद व्यापक जनता में स्थापित करना होगा।

हमें राजनीतिक सोच के पूरे मुकाम को इस तरह खड़ा करने की जरूरत है कि हर चीज पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच दुश्मनी भरे विरोध के इर्द-गिर्द स्थापित हो। इसमें इस विरोध के दूसरे आयामों की मदद भी ली जा सकती है। सरसरी तौर पर अपने पाठकों को मैं इस दूसरे रास्ते यानी कम्युनिज्म के उसूलों की याद दिलाना चाहता हूँ-- उत्पादन के साधनों, कर्ज और लेन-देन और निजी संपत्ति के खिलाफ प्रबंधन के सामूहिक स्वरूपों की स्थापना, श्रम को एक ही साथ अनेक रूपों में जाहिर होने को मुमकिन बनाना जिसे खास तौर से शारीरिक और बौद्धिक श्रम के रूपों के बीच फर्क ने अभी कुचल रखा है, हमेशा अन्तरराष्ट्रीयतावाद पर अमल करना और लोकप्रिय शासन के स्वरूपों पर काम करना, जो अलग-थलग राज्यों की किसी भी व्यवस्था के खात्मे के लिए काम करें।

3. एक लोकप्रिय उभार हमेशा की तरह यह पक्के तौर पर आबादी के एक छोटे से हिस्से का उभार होगा, लेकिन जो कम से कम राजसत्ता को स्थगित कर देगा। ऐसा एक उभार ऊपर दिये गये पहले बिन्दु से जुड़ा हुआ है।

4. एक मजबूत संगठन जो पहले तीनों बिन्दुओं के बीच एक सक्रिय तालमेल को पेश करे, अपने दुश्मनों के बिखराव की दिशा में काम करे, जितनी जल्दी सम्भव हो उतनी जल्दी दूसरे बिन्दु यानी साम्यवादी रास्ते के ऊपर दिए गये उसूलों को अमल में लाने के लिए काम करे।

इन चार बिंदुओं में से दो, पहले और तीसरे, एक खास हालात के बनने पर निर्भर हैं। लेकिन दूसरे बिन्दु पर तो हम अभी से ही सक्रिय रूप से काम शुरू कर सकते हैं। और यही सबसे नाजुक पहल है। हम, खास कर दूसरे बिंदु की रोशनी में, बुद्धिजीवियों और सर्वहारा के तीनों रूपों की साझी बैठकों और कारवाइयों का समर्थन करते हुए चौथे बिन्दु पर भी काम कर

शेष पृष्ठ 57 पर...

गार्गी प्रकाशन, प्रगतिशील और जनपक्षधर साहित्य के प्रकाशक और वितरक

रामवृक्ष बेनीपुरी

लाल रूस	60.00
लाल चीन	75.00
कार्ल मार्क्स	75.00
रूस की क्रान्ति	150.00

सुधा चौधरी

दर्शन की सामाजिक भूमिका और भारतीय जीवन दृष्टि	140.00
-----------------------------------------------	--------

कार्ल जी. युंग

नाजीवादी जर्मनी की मनोदशा	60.00
---------------------------	-------

फिदेल कास्त्रो

एक विराट जुआघर	40.00
इतिहास मुझे सही साबित करेगा	25.00
एक और ग्यारह सितम्बर	20.00
कल बहुत देर हो जायेगी	20.00

वीणा भाटिया (स.)

एक छोटे लड़के और एक छोटी लड़की की कहानी	40.00
-----------------------------------------	-------

जैरी मैण्डर

चेतना का मण्डीकरण	15.00
-------------------	-------

मोरिस सिमाश्को

मरुस्थल	40.00
---------	-------

पृथ्वी राज कालिया

स्वतंत्रता संग्राम में मुस्लिम भागेदारी	50.00
-----------------------------------------	-------

एदुआर्दो गालेआनो

लातिन अमरीका के रिसते जख्म	200.00
आग की यादें	80.00

वरियाम सिंह सन्धु

गदरी बाबा कौन थे	35.00
करतार सिंह सराभा	20.00

वेद प्रकाश 'वदुक'

आजादी या मौत	130.00
--------------	--------

सूफी अमरजीत

हो ची मिन्ह : एक क्रान्तिकारी का जीवन	100.00
---------------------------------------	--------

हावर्ड फास्ट

मुक्ति मार्ग	80.00
--------------	-------

डाइसन कार्टर

पाप और विज्ञान	50.00
----------------	-------

चिंगिज आइत्मातोव

पहला अध्यापक	35.00
--------------	-------

संकलन

विज्ञान और वैज्ञानिक नजरिया	35.00
-----------------------------	-------

निकोलाई गोगोल

तस्वीर	20.00
--------	-------

मक्सिम गोर्की

इटली की कहानियाँ	50.00
------------------	-------

कार्ल मार्क्स

प्यूचे : आत्महत्या पर	15.00
-----------------------	-------

राधागोविन्द चट्टोपाध्याय

बुर्जुआ समाज और संस्कृति	10.00
--------------------------	-------



मंथली रिव्यू की महत्वपूर्ण अनुदित पुस्तकें

रिचर्ड लेविन्स/रिचर्ड लेवॉटिन

मुनाफे की जकड़ में विज्ञान	100.00
----------------------------	--------

जॉन बेलामी फोस्टर/रॉबर्ट मैक्केन्जीजॉन

अन्तहीन संकट	150.00
--------------	--------

संकलन

इतिहास : जैसे घटित हुआ	50.00
------------------------	-------

विश्वव्यापी कृषि संकट	50.00
-----------------------	-------

विश्व खाद्य संकट	50.00
------------------	-------

क्यूबा का तजुर्बा	10.00
-------------------	-------

साम्राज्यवाद आज	80.00
-----------------	-------

क्यूबा क्रान्ति के पचास वर्ष	30.00
------------------------------	-------

लियो ह्यूबरमन

समाजवाद का ककहरा	45.00
------------------	-------

मनुष्य की भौतिक सम्पदाएँ	20.00
--------------------------	-------

सिडनी गार्डन, टेड एलन

डॉक्टर नार्मन बेथ्युन की अमर कहानी	150.00
------------------------------------	--------

फ्रेड मैक्डॉफ, जॉन बेलामी फोस्टर

वित्तीय महासंकट	80.00
-----------------	-------

पॉल एम स्वीजी, हैरी मैक्डॉफ

असमाधेय संकट	50.00
--------------	-------

फ्रिज पापेनहाइम

आधुनिक मानव का अलगाव	80.00
----------------------	-------

समीर अमीन

उदारवादी वायरस	50.00
----------------	-------

अन्तरराष्ट्रीय प्रकाशन की पुस्तकों के विक्रेता

The Documents of the Great Proletarian Cultural Revolution in China

(three volumes, eight books) Set 2400.00

The Documents Of the Great Debate

(three volumes Vol, three books) Set 300.00

Martin Nicolaus

Restoration of Capitalism in USSR 60.00

William Hinton

Turning Point In China 60.00

किताबें मँगवाने के लिए सम्पर्क करें

1/4649/45वी, गली न. 4, न्यू मॉडर्न शाहदरा, दिल्ली-110032 e-mail: gargiprakashan15@gmail.com फोन : 9810104481

नोट : 500 रुपये से अधिक की किताबें मँगवाने पर 20 प्रतिशत की छूट, डाक खर्च हमारा।

20 रुपये से कम मूल्य की पुस्तिकाओं पर कोई छूट नहीं।